॥ श्रीहरिः ॥

चन्द्रावती सारस्वत

बाबा नवीनसिंह द्वारा रचित—

वेदानुवचन

उत्तरार्ध

जिसको

मुरादाबादनिवासी,

सनातनधर्मपताका सम्पादक मुनिकुमार

पं० रामस्वरूप शर्मा

और

पं० रामचन्द्रशर्माने

मुमुक्षु पुरुषोंके हितार्थ

हिन्दी भाषामें अनुवादित कर

प्रकाशित किया

१९८३

*Printed & Published by Pt. Ramchandr Sharma
at the Sanatan Dharm Press Moradabad.*

❋ सप्तम-परिच्छेद ❋

(१)-पहिले परिच्छेदमें यह तो बतलाया गया है, कि-ब्रह्म-लोकमें संकल्पसे भोग प्रकट होते हैं परन्तु यह नहीं बतलाया गया, कि-वे भोग (खारजी) बाह्य होते हैं या (जहनी) आभ्यन्तरिक होते हैं। इस कारण अब यह बतलाया जाता है, कि-जो भोग संकल्प से ब्रह्मलोकमें प्रकट होते हैं वे स्वप्नके भोगोंकी समान अर्थात् दृश्यों की समान कल्पित होते हैं, भेद केवल यह होता है, कि-स्वप्नमें जो दृश्य प्रकट होते हैं वे स्थिर नहीं होते और मनकी इच्छाके वशमें नहीं होते और कर्मोंके वशमें होते हैं।

(२)—ब्रह्मलोकमें भी स्वप्नकी समान संकल्पमात्रसे ही भोग प्रकट होजाते हैं तब भी वह बाह्य वस्तुकी समान स्थिर होते हैं इच्छा के अधीन रहते हैं कर्मोंके अधीन नहीं होते, अगर स्वप्नके दृश्य भी स्थिर होजायँ तो बाह्य समझे जासकते हैं परन्तु उनकी तो यह दशा है, कि-एक क्षणमें हाथी प्रकट होता है तो दूसरे क्षणमें वही हाथी ऊँट होजाता है और निद्राके कारण उनकी पूर्ण पहिचान नहीं होती और बुद्धिपूर्वक विचारने पर उनका कुछ क्रम भी नहीं मालूम होता इस कारण मनुष्य उनको कल्पित मानते हैं परन्तु जाग्रत् दशामें इस के विरुद्ध वे दृश्य स्थिर रहनेवाले और क्रमपूर्वक दिखाई देते हैं और स्वप्नके ज्ञानकी अपेक्षा पूर्ण ज्ञान होता है इस कारण मनुष्य बाहरी दृश्योंको कल्पित अर्थात् झूँठा नहीं समझते।

(३)-वास्तवमें क्या जाग्रत् क्या स्वप्न सब अवस्थाओंके सब भोग-दृश्य संकल्पमय (ख्याली) हैं परन्तु क्रमपूर्वक और देरतक स्थिर होनेके कारण और जाग्रत्में फिर भी वही मिलने के कारण जाग्रत्के दृश्य जिज्ञासुको ख्याली नहीं मालूम होते और स्वप्नके भोग ख्याली मालूम होते हैं परन्तु वास्तवमें दोनों ही ख्याली हैं।

(४)-इस नियमके अनुसार जब स्वप्नके दृश्य जाग्रत्के दृश्यों की अपेक्षा कल्पित (झूँठे) सिद्ध होगए इसीप्रकार जाग्रत्के दृश्य ब्रह्मलोकके दृश्योंसे कल्पित होते हैं और ब्रह्मलोकके भोग बाह्य हैं, क्योंकि-जाग्रत्के भोगयद्यपि स्थिर रहते हैं तब भी थोड़े समय तक स्थिर रहते हैं कल्प तक स्थिर नहीं रहते और ब्रह्मलोकके भोग तो

कल्प तक स्थिर रहते हैं, क्योंकि—ब्राह्म संकल्प की वृत्ति एक कल्प तक स्थिर रहती है और मनुष्यके संकल्पकी वृत्ति तो एक या दो क्षण तक स्थिर रहती है इसकारण संकल्पके अनुसार उनके भोगोंका सम्बन्ध स्थिर रहता है।

(५) ब्रह्मलोकके भोगोंका क्रम और यह वही भोग हैं यह पहिचान यहाँके भोगोंकी अपेक्षा अधिक दृढ होती है इस कारण यहाँके भोगोंकी अपेक्षा तहाँके भोग बाह्य हैं और यहाँके भोग ख्याली हैं, क्योंकि-यह सिद्धान्त है, कि-ईश्वरका संकल्प आरम्भमें जैसा उठता है वह प्रलय तक वैसा ही स्थिर रहता है।

(६)-इसका कारण यह है, कि-उसके संकल्प अपने ऐश्वर्यके लिये होते हैं अथवा प्राणियोंके भोगके लिये होते हैं। जो संकल्प उस के अपने भोगके लिये होते है वह तो स्वतन्त्र हैं और जो प्राणियोंके भोगके लिये हैं वह कर्मके अधीन हैं उनके जैसे कर्म होते हैं तैसा भोग देनेके लिए संकल्प उठते हैं इस कारण जो जैसा करता है वह तैसा ही पाता है और यही उसके संकल्पोंका ईश्वरीय न्याय है।

(७)-जिस प्रकार हमारे संकल्प सुषुप्तिमें छिप जाते हैं इसी प्रकार जब कल्प बीत जाता है तब ईश्वरके संकल्प इसप्रकार छिप जाते हैं, परन्तु जिसप्रकार सुषुप्तिसे निकलते समय हमारे संकल्प कर्मवश फिर उत्पन्न होकर जाग्रत्में आजाते हैं इसीप्रकार ईश्वरके संकल्प भी संसारकी फिर उत्पत्ति होनेपर न्यायानुसार उठते हैं और संसारको उत्पन्न करके प्रत्येक प्राणीके भोगके लिए एक २ संकल्प जो उनके कर्मोंके अनुसार उठता है कल्प तक स्थिर रहता है।

(८)-वह सत्य-संकल्प है इसकारण बिना किसी यन्त्रके और विना किसी कर्मके पृथिवी आकाश तथा और जो उनमें हैं सब उसी क्रमसे श्रुतियोंके कथनानुसार पलभरमें उसमें कल्पित उत्पन्न हो जाते हैं। इसीप्रकार मनुष्यके संकल्पमें स्वप्नका संसार स्वप्नमें प्रकट होजाता है, यद्यपि यह सब जगत् कल्पित अथवा ईश्वरीय संकल्पमय है तब भी मनुष्यका संकल्प इन्द्रियोंसे निकलताहुआ ईश्वरके संकल्पमय संसारमें लगता हुआ उसीके अनुसार आकृति पाता हुआ उन्हें देखता है और भोग पाता है।

(९) इसप्रकार जाग्रत्में दिखाई देनेवाली प्रत्येक वस्तु दोहरे संकल्पसे उत्पन्न हुई है। एक हकीकत तो उसकी ईश्वरके संकल्पसे है और दूसरी प्राणियोंके संकल्पसे है। इसीकारण स्वप्नसे उठकर बारम्बार उन ही वस्तुओंको देखते हैं और उन्हें (खारजी) बाह्य समझते हैं। परन्तु स्वप्नमें जो भोग उठते हैं वे दोहरे संकल्पसे नहीं उठते हैं,किन्तु एक उसीके संकल्पसे उठते हैं जो सोता है। इसकारण एक तहके हैं और कर्मोंके वशमें होते हैं, स्वतन्त्र नहीं है जब२ स्वप्न में जाता है तो उन (पहिले देखेहुए पदार्थों) को नहीं देखता किन्तु भाँति२ के नये २ पदार्थोंको देखता है, इस कारण जाग्रत्में आकर उनको ख्याली (कल्पित-झूँठे) समझता है।

(१०) अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि--पृथिवी एक द्रव्य है, यह सृष्टिकी आदिमें ईश्वरके संकल्पसे बनाई गई है परन्तु जब मनुष्य उसकी ओर देखता है तो मनुष्यका संकल्प भी नेत्रोंके मार्गसे सूर्यकी किरणोंकी समान निकलता: हुआ पृथिवी पर पड़ता हुआ उसीकी आकृतिका बनता हुआ उससे अभिन्न होजाता है तब पृथिवी दिखाई देती है। इस कारण पृथिवी मनुष्यके संकल्पकी दो तहसे बनती है। उसकी एक तह ईश्वरके संकल्पकी है और दूसरी तह उसकी अपनी अर्थात् प्राणीके सूक्ष्म संकल्पकी होती है।

(११) जब यह अपने नेत्रोंको मूँद करके अपने भीतर पृथ्वी देवीका ध्यान करता है तो उस ध्यानमें इसी प्रकारकी ख्याली पृथ्वी भीतर दिखाई देती है जैसी इसने बाहर देखी होती है। परन्तु ईश्वरके संकल्पकी पृथिवी उसके ध्यानमें नहीं आती, इसकारण एक ही तहमें ख्याली पृथिवी कमजोर दिखाई देती है और, चलायमान तथा अनियमित होती है।

(१२) इस प्रकार सिद्ध हुआ कि-प्रत्येक वस्तु जो वर्त्तमान है, दो प्रकारकी उत्पत्ति रखती है। या तो ईश्वरीय सृष्टि अथवा मानुषी सृष्टि प्रत्येक वस्तु ईश्वरीय संकल्पकी तहसे ईश्वरीय:सृष्टि कहलाती है और वही प्राणियोंके संकल्पके कारण जीवसृष्टि कहलाती है और इसी को संस्कृतमें ईशसृष्टि और उसको जीवसृष्टि कहते हैं।

(१३) यद्यपि जीवसृष्टि ईश्वरसृष्टिके अधीन है, तो भी इस (ईश्वर) का संकल्प तो स्वच्छ सत्त्वगुणका है और उस (जीव)

संकल्प तो तमोगुण-रजोगुण-मिश्रित सत्त्वगुण वा है, इसलिये स्वच्छ नहीं है। इस [ईश्वर] के संकल्पमें जो स्वच्छ और प्रकट सृष्टि होती है क्रमशः और न्यायानुसार (कर्मानुसार) होती है अनियमित नहीं होती और प्राणीके संकल्पमें जो सृष्टि होती है वह कर्मानुसार नियमित भी होती है और अनियमित भी होती है और जीव ईश्वरकी अधीनतासे अलग उनमें एक नई सृष्टि भी कर लेता है।

[१४] अब इस प्रकार समझना चाहिये कि-ईश्वरके स्वच्छ संकल्पमें जो कर्मानुसार एक स्त्री अपने कर्मोंको भोगनेके लिये प्रकट होती है और जीवोंके संकल्प भी उसकी आकृतिके अनुसार दूसरी तह उसमें उसमें उत्पन्न करते हैं उसे द्विगुण आकृतिमें नारी देखते हैं। जिससे पिता तो लड़की, भाई उसको बहिन, पति उसे पत्नी और भाईके लड़के उसको बुआ और देवरके लड़के चाची इत्यादि अलग नई सृष्टि पैदा कर लेते हैं।

(१५)-ईश्वरके स्वच्छ संकल्पमें तो उस नारीकी आकृति जैसा, कि-नारीका प्राकृतिकरूप होना चाहिये प्रकट हुई है। लड़कीपन बहिनपन और स्त्रीत्व तो उसमें कभी नहीं बनाया गया है, तब भी जीवोंने उसमें यह नई कल्पना करली, यही इस जीवकी ख्याली पैदायशरूप एक तह है और उस तहके अनुसार वे वर्ताव करते हैं।

(१६)-जो सृष्टि ईश्वरके संकल्पकी है वह तो सुख दुःख नहीं देती और जीवसृष्टि सुखदुःख देनेवाली होती है। यथा-देवदत्त और यज्ञदत्तके दो लड़के कहीं दूर देशमें आजीविकाके लिये चले गये थे यज्ञदत्तका लड़का तो एक राजाके यहाँ प्रधान मन्त्रीके पद पर नियुक्त होगया और देवदत्तका लड़का वहाँ मरगया। एक मनुष्य वहाँसे यज्ञदत्त और देवदत्तके ग्रामको जारहा था उससे यज्ञदत्तके लड़केने कहला कर भेजा, कि-तुम यज्ञदत्तसे कहना, कि-तुम्हारा लड़का राजीखुशी है और मन्त्री बनगया है और देवदत्तसे कहना, कि—तुम्हारा लड़का बहुत दिन हुए मरगया।

(१७)जब वह मनुष्य वहाँ पहुँचा तब उसने गलतीसे कुछकी कुछ खबर दी, यज्ञदत्तसे कहदिया, कि-तेरा लड़का मरगया और देवदत्तसे कहा, कि-आपका लड़का जीवित है और मन्त्री बनगया है। उस समय यज्ञदत्त तो शोकमें मग्न होगया और देवदत्त प्रसन्नताके मारे

फूला न समाया। यद्यपि ईश्वरकृत यज्ञदत्तका पुत्र जीवित था वथा मन्त्री था और देवदत्तका लड़का मरगया था।

(१८)-देखो! ईश्वरकी सृष्टिका यज्ञदत्तका लड़का जीवित है, परन्तु इस दूतकी वातसे उसका पुत्र जो जीवसृष्टि है वह मरगया इस लिये प्रसन्नताके बदले यज्ञदत्त शोकमें मग्न होगया और देवदत्तका ईश्वरकृत पुत्र मरगया था तब भी वह उसको जीवित और मन्त्री समझकर प्रसन्नताके मारे नहीं अघाता था, यदि ईश्वरसृष्टि सुख दुःख का कारण होती तो समाचार देनेमें भ्रम होने पर भी यज्ञदत्तको प्रस-न्नता होनी चाहिये थी और देवदत्तको दुःख होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता अतः प्रमाणितहुआ, कि-मरनेवालो, अर्थात् जीवकृत सृष्टि सुख दुःखका कारण है और ईश्वर-कृत सृष्टि सुख दुःखका कारण नहीं है।

(१९)-इसी कारण शास्त्र जीवकृत सृष्टिके दूर करनेकी शिक्षा देता है और ईश्वरकृत सृष्टिके दूर करनेकी शिक्षा नहीं देता जो इस रहस्यको जानते हैं विवेकसे मनकी वृत्तियोंको रोकते हुए सबसे प्रेम मोह और प्रसन्नताको त्याग कर संन्यास लेलेते हैं, इसलिए जीवनमें भी सुखी रहते हैं। परन्तु अज्ञानी पुरुष इस रहस्यको नहीं जानता इस लिये अपनी रिस्तेदारोंकी सृष्टिमें ही मोह करता हुआ सुख दुःख पाता रहता है।

(२०)-सब सृष्टियें अर्थात् जाग्रत् स्वप्न और ब्रह्मलोककी सृष्टियें संकल्पमयी हैं, परन्तु प्रजापतिके संकल्पकी सृष्टि पहली तह है और क्रमानुसार तथा कर्मानुसार रची हुई है और उसीमें दूसरी मनुष्यके संकल्पकी है, इसी लिये जाग्रत्का संसार तो सत्य मालूम होता है और स्वप्नका संसार केवल विचारमात्र ही प्रतीत होता है ब्रह्मलोकके भोग तो केवल प्रजापतिके ही संकल्पके होते हैं और स्वच्छ सत्वगुणसे वनाये जाते हैं और संकल्पसे उत्पन्न होकर कल्प तक स्थिर रहने वाले हैं परन्तु यह संसार कल्प तक नहीं किन्तु नियमित समय तक स्थिर रहता है, इसलिये ब्रह्मलोकके दृश्य सत् हैं और यहाँ के दृश्य (खारजी) असत् हैं।

(२१)-तब भी क्या ब्रह्मलोक क्या जाग्रत् क्या स्वप्न यह सब ही स्थिर रहने वाले नहीं है, स्थिर रहनेवाला तो यह आत्मा ही है

और यही सत्य है और वे सब तो सांकल्पिक और कल्पित हैं, परन्तु संसारके इस रहस्यके अनुसार ब्रह्मलोक भी इसी प्रकार अमृत कहलाता है और पुण्यमय कर्मोंका फल है परन्तु यह सब इसी आत्मा की छाया हैं जिस प्रकार मनुष्यकी छाया बिलकुल न होनेके बराबर है इसी प्रकार यह सब आत्माके सामने छायाकी समान बिलकुल न होनेकी बराबर हैं (मादूमीउलमालूम हैं)

(२२)-भाषामात्र जानने वालोंको समझानेके लिये इस बातको हम यहाँ विस्तार पूर्वक लिखेंगे। क्यों कि—जब तक उसकी समझ में यह बात न आवेगी, कि—यह जो कुछ दिखाई देता है संकल्पमय है। और जब तक यह सब उसको बिलकुल न होनेके बराबर नहीं होजाती तबतक उसका बन्धनसे छूटना और मुक्त होना कठिन है। क्यों कि—यह संसार एक विचित्र जादूगर है इसमें अन हुई बात दिखाई देती है और जीव मृगतृष्णाके जलमें यों ही गोता खाता रहता है।

(२३)-इस बड़ेभारी रहस्यको समझनेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये, कि—दीपकके प्रकाशकी खान वास्तवमें दीपक ही है, क्यों कि-दीपकसे जो प्रकाश निकलता है वह उसीकी छाया और उसीका गुण है, यदि दीपक न हो तो वह कुछ भी न रहता इसी प्रकार धूप भी सूर्यका एक धर्म है और सूर्य ही उसकी खान है सूर्यके बिना धूप वास्तवमें अपनी कुछ सत्ता नहीं रख सकती।

(२४)-संसार भी पाँच चीजोंसे मिला हुआ है। या तो उसमें रूप रङ्ग होता है अथवा शब्द होता है अथवा गंध होता है अथवा स्वाद होता है अथवा स्पर्श होता है। क्यों, कि-संसारकी जिस वस्तुको टटोलोगे वह इन ही पाँच चीजोंकी बनी हुई होगी और उस के धर्म भी तह तहमें प्याजके छिलकोंकी समान इनमेंसे ही किसीके धर्म निकलेंगे। दृष्टांतके लिये हम एक कागजके टुकड़ेको हाथमें लेकर बूझें कि—क्या है ? तो उसका उत्तर होगा, कि—यह कागज है। फिर सन्देह होता है, कि—कागज तो उसका नाम है उसकी असलियत बताओ, तो इसका यही उत्तर होगा, कि—देखो उसका रङ्ग लाल है, गन्ध अच्छी है। और उसमें स्वाद भी है तथा वह चीरनेसे शब्द करता है हाथ लगानेसे शीतल और उष्ण भी प्रतीत होता है यही

गुण केलेकी समान छिलके छिलके होकर एक आकृतिमें प्रकट होगए, उसका नाम कागज रख लिया गया।

(२५)-दृष्टान्तके रूपमें दूसरी वस्तुएँ भी इन्हीं पञ्चगुणोंसे तह पर तह एकत्रित होकर प्रकटहुई, दिखाई देती हैं परन्तु किसी वस्तुमें न रूप हो न गन्ध हो न शीतलता हो न उष्णता हो न स्पर्श हो न शब्द हो तथा स्वाद भी न हो तो उसे कोई भी प्रकट (दृश्यवस्तु) नहीं कह सकता और उसको सब मनुष्य (नाबूद) यह कुछ नहीं है कहते हैं। इस लिए प्रतीत हुआ, कि-संसारका सार यही पाँचतत्व हैं, परन्तु किसीमें किसी प्रकारसे रहते हैं और किसीमें किसी प्रकार से रहते हैं सूक्ष्म रूपसे विस्तृतरूपसे और उष्णता और अनुष्णता रूपसे एकत्रित रहते हैं, इसीलिये प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुसे पृथक् दिखाई देती है परन्तु वास्तवमें यह पाँच तत्व ही सबमें है।

(२६)-जब यह तत्व संसारकी मूल प्रतीत होगए तब अब बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि इन तत्वोंको पहिचाने, कि-यह क्या हैं, बुद्धिमान् पुरुष थोड़ेसे विचारसे ही जान सकता है, कि— रङ्गरूपकी खान वास्तवमें आँख है क्यों, कि-नेत्रके बिना रङ्ग रूपको कुछ भी प्रमाण नहीं मिल सकता यदि संसारमें नेत्र न होते तो कोई भी बुद्धिमान् पुरुष रङ्ग रूपकी पहिचान नहीं कर सकता अबभी नेत्र के बिना कोई रङ्गरूपका प्रमाण बतलाना चाहे तो नहीं मिल सकेगा इससे सिद्ध होता है, कि-रंगरूपकी खान वास्तवमें नेत्र हैं और यह नीले पीले आदि सबरूप, जिस प्रकार धूप सूर्यका गुणहै और प्रकाश दीपकका गुण है, इसी प्रकार नेत्रके गुण और नेत्रकी छाया हैं।

(२७)-जिस प्रकार धूप सूर्यकी गुण और सूर्यकी छाया है इसी प्रकार संसारका रंगरूप नेत्रका गुण और नेत्रकी छाया है, और जिस प्रकार सूर्य धूपकी खान है और उससे धूप प्रकट होती है इसीप्रकार संसारका नीला पीला आदि जो रूप है उस सबकी खान नेत्र हैं और जिस प्रकार सूर्यसे धूप प्रकट होती है उसी प्रकार यह सब नेत्रों से प्रकट होते हैं।

(२८)-इसी प्रकार सुगन्धि दुर्गन्धि आदि संसारकी दूसरी हकीकत भी नाकके गुण हैं इस लिए नाक ही उनकी खान है क्योंकि यदि नाक न हो तो क्या सुगन्ध क्या दुर्गन्ध क्या इत्र और क्या सड़ांद

किसीका भी अस्तित्व न हो यह सब नाककी किरणें इसीप्रकार नाक रूप हैं जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्यरूप हैं।

(२९)-इसी प्रकार बाँसुरी मृदङ्ग ढोलक आदि सब प्रकारके शब्द कानोंके गुण हैं और कान ही उनकी खान है क्यों कि—कान न हों तो शब्दका कुछ भी अस्तित्व नहीं होसकता जैसे कि-धूपके होने में सूर्यके अतिरिक्त और कोई कारण मालूम नहीं होता इसी प्रकार कानोंके अतिरिक्त उनके होनेमें कुछ भी प्रमाण नहीं है इसलिए अच्छे बुरे सब शब्द कानोंके धर्म हैं और कानरूपहैं और यही उनकीखान है

(३०)-इसी प्रकार मीठे कडुवे खट्टे कसैले और तीखे आदि सब रस जिह्वाके गुण हैं और जिह्वा उनकी खान है यदि जिह्वा न होती तो इनमेंसे एक भी रस न होता जिह्वाके होने पर ही यह सब रस होते हैं जिस प्रकार दीपकके होने पर ही प्रकाश मिलता है विना दीपकके प्रकाश नहीं मिलता है इसी प्रकार जिह्वाके न होने पर यह सब नहीं मालूम होते अतः यह जिह्वाके गुण हैं और जिह्वारूप ही हैं।

(३१)-इसी प्रकार शीतल और उष्ण आदि स्पर्श त्वचा और मांसके गुण हैं इस लिए त्वचा और मांस आदि उनकी खान हैं क्यों कि-यदि मांस और त्वचा न हो यह भी न होंगे और यह सब तबही मिलते हैं जब त्वचा और मांस आदि जाननेके कारण होते हैं, जिस प्रकार धूप भी तब ही मिलती है जब सूर्य होता है और सूर्य नहीं होता है तो धूप भी नहीं मिलती, इसी प्रकार शीतलता उष्णता आदिकी प्रतीति इनको जाननेवाली त्वचा-मांस आदि इन्द्रियके होने पर ही होती है और जब यह नहीं होते तब यह शीतलता उष्णता आदि भी नहीं होती इसलिए सिद्ध हुआ, कि—शीतलता उष्णता आदि त्वचा मांसादि के धर्म हैं त्वचा मांसादि रूप हैं।

(३२)—अब प्रमाणित होगया कि--संसार की सत्ता रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द इन पाँच तत्त्वोंसे बनीहुई है और यह पाँच तत्व आँख कान जिह्वा नाक और मांस आदिके गुण हैं और उनका ही रूप हैं और यही उनकी हकीकत है अतः सिद्ध होगया, कि--वास्तवमें बाहर कुछ वर्तमान नहीं है, मनुष्यकी पाँच ज्ञानेन्द्रियें ही वर्तमान हैं। मनुष्यके बिना संसारकी कुछ सत्ता नहीं है और मनुष्य

ही संसारकी खान है और जिस प्रकार सूर्य धूपरूप बनकर फैला हुआ है इसीप्रकार मनुष्य भी संसाररूप बनकर फैला हुआ है ।

(३३)---अब हम इस बातका विचार करते हैं, कि---यह संसार की खान पञ्चज्ञानेन्द्रियें वास्तविक हैं, अथवा इनकी भी कोई दूसरी खान है । तब जरासा विचार करने पर ही प्रतीत होता है, कि--यह भी वास्तवमें सत् नहीं है इनकी खान भी मन है ।

(३४)--क्योंकि---जब मन होता है तब ही यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय होती हैं और जब मन नहीं होता है तो यह भी नहीं होती । देखो ! निद्राके समय यह सब ज्ञानेन्द्रियें मनमें इसप्रकार लीन होजाती हैं जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्यमें लीन होजाती हैं जब वर्ण शब्द रस गन्ध और स्पर्श निद्राके समय इन्द्रियोंमें लीन होजाते हैं और इन्द्रियें मनमें लीन होजाती हैं तो सिद्ध होता है, कि---सब संसारकी खान वास्तवमें मन है और मन ही फैलकर इन्द्रियरूप होता हुआ संसार होजाता है मनके बिना किसीका भी अस्तित्व नहीं है ।

(३५) जब कि --सब संसार मनका ही फैलावा है और मनकी फैलावट ही वास्तवमें संकल्प है तो सिद्ध होता है, कि---संसार संकल्पमय है । स्वप्नके अतिरिक्त संसारकी और कोई सत्ता नहीं है और मनही इन्द्रिय तथा विषय बनकर संसार बनजाता है और इस मनके ही चक्रमें फँसाहुआ मनुष्य वर्ताव करता रहता है बुद्धिमान् पुरुषको इस मनके विचित्र गुण स्वप्नमें भलीप्रकार मालूम होजाते हैं कि---उस दशामें तो रङ्ग रूप शब्द रस गन्ध और स्पर्श इनमेंसे कोई भी बाहर नहीं होतो सब मनके ही भीतर होते हैं ।

[३६]---परन्तु यह मन क्षणभरमें ही झटपट शब्द वर्ण रस गन्ध और स्पर्श आदि सबको रचलेता है और उनको जाननेके लिये क्या नेत्र क्या नासिका क्या कान क्या जिह्वा और क्या त्वचा आदि इन्द्रिय और सब शरीर भी बनजाता है और फिर इन्हीं पञ्चतत्त्वों के पञ्चीकरणसे पृथिवी आकाश आदि जो कुछ उसमें है सब बन जाता है और मनुष्य उस दशामें मनमें इसीप्रकार व्याकुल होता है जिसप्रकार यहाँ जाग्रत् संसारमें व्याकुल होता रहता है ।

(३७)-इसकारण सिद्ध होता है, कि-क्या जाग्रत् क्या स्वप्न सब मनका ही पसारा है और मन ही सबकी खान है, सब मनोरूप हैं

और मन ही संकल्प है । इसकारण संसार संकल्पमय है वह कुछ भी सत्ता नहीं रखता योंही संकल्प विकल्पकी समान इस तरह दिखाई देता रहता है जिस प्रकार मृगतृष्णाकी नदी बडे वेगसे चलती और दूरसे बहती हुई दिखाई देती है ।

(३८)--अब हम फिर शंका कर सकते हैं, कि-सबकी खान मन कुछ सत्ता रखता है अथवा उसकी भी और कोई खान है अर्थात् उस का भी और कोई अधिष्ठान है ? तब थोड़ेसे ही विचारसे प्रतीत होजाता है, कि-मन भी कुछ हकीकत नहीं रखता उसका अधिष्ठान भी आत्मा है, क्यों कि-आत्माके होनेपर ही यह मन भी होता है जब आत्मा नहीं होता तब यह मन भी नहीं होता और सुषुप्तिके समय जब आत्मा अपनी महिमामें स्थिर होता है तो मन भी आत्मामें इसी प्रकार लीन होजाता है जिस प्रकार सूर्यमें सूर्यकी किरणें लीन होजाती हैं ।

(३९)-और जब यह आत्मा जाग्रत् स्वप्नमें होता है तो यह मन उसमेंसे उसी प्रकार निकल जाता है जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्य मेंसे निकल आती हैं इससे प्रतीत हुआ क्या संसार क्या इन्द्रियें क्या मन सबके खानोंकी खान आत्मा है और उसकी कोई खान नहीं है और यह सब आत्माके गुण आत्मस्वरूप हैं, आत्मा ही प्रत्येकरूपमें आया हुआ देखता है और दिखाई देता है और आत्माके बिना कुछ नहीं है यह आत्मा ही अविनाशी हैं और यही ब्रह्म है और सब इच्छाएँ इसीके रूप हैं यही आप्तकाम और सर्वशक्तिमान् हैं ।

(४०)-अब इसप्रकार समझना चाहिये, कि-मन एक संकल्प है क्यों कि जब मनमें चञ्चलता होती है तो उसीको संकल्प विकल्प कहते हैं और जब यह संकल्प स्थिर होता है तो उसीको मन कहते हैं वास्तवमें सब मन ही है । और यह सिद्ध है, कि-संकल्पकी कुछ सत्ता (हकीकत) नहीं है वह अनहुआ होता है इसप्रकार जो अन हुई चीजें दिखाई दिया करती है उन्हें संकल्प कहा करते हैं ।

(४१)-देखो जब रस्सीमें सर्प और सीपीमें चाँदीका भ्रम होता है तो वास्तवमें रस्सी या सीप ही वर्तमान होती है परन्तु संकल्प साँप और चाँदी पर पड़ता है वास्तविक रस्सी और सीपका ध्यान ही नहीं करता और सर्प तथा चाँदीका ध्यान करता हुआ रस्सी

और सीपसे मिलता हुआ सर्प और चाँदीको दिखाता है रस्सी और सीपको ढाँप लेता है इसी कारण मनुष्य विश्वास करता है, कि-यह सर्प है और यह चाँदी है।

(४२)---यहाँ उदाहरणमें जो सर्प और चाँदीके ध्यानसे रस्सी और सीपमें (मरकूज) एक होजाता है परन्तु रस्सी और सीपकी कुछ हानि नहीं करसकता क्योंकि---बिगाड़ तो तब होसकता है यदि रस्सी बदलकर सर्प बनजावे और सीप बदल कर चाँदी बन जावे परन्तु रस्सी या सीप ज्यौंकी त्यौं स्थिर रहती है, केवल संकल्प ही सर्प और चाँदी की आकृतिमें बदलाहुआ रस्सी और सीपमें मिला हुआ उसीको सर्प और चाँदी दिखाता है।

(४३)--और संकल्प वास्तवमें कुछ सत्ता नहीं रखता वह हेच होता है, तब भी जब वह सर्प या चाँदीकी आकृतिमें रस्सी और सीपसे एक होता है तो रस्सी या सीपकी उपलब्धिसे उपलब्धसा होता है असत् सत् दिखाई देता है इसकारण रस्सी और सीपकी ओर संकेत करके कहाजाता है कि---यह सर्प है और यह चाँदी है। तो यहाँ इस संकेतका अर्थ--लक्ष्यार्थ वास्तवमें रस्सी या सीप है जो कि उपलब्ध---वर्तमान---है परन्तु उसकी पहचान जो वर्तमान नहीं है उस सर्पमें होती है, संस्कृतमें इसीको विवर्तवाद कहते हैं।

(४४)--अब इसप्रकार समझना चाहिए कि---जिसप्रकार ऊपरके उदाहरणमें संकल्प एक हुआ सर्प और चाँदीको आकृतिमें बदलता है, उसीप्रकार यह संकल्प या मन भी आत्मामें (मरकूज) मिला हुआ संसारकी आकृतिमें बदलता है और आत्माकी शरणमें रहता हुआ उसकी सत्ता (हस्ती) से (हस्त) उपलब्ध हुआ वर्तमान रहता है आत्मा ज्यौंका त्यौं स्थिर रहता है कुछ बदलता नहीं, क्यों कि---जो बदलता है वह नाशवान् होता है यदि आत्मा बदलकर संसार बनजाता तो नाशवान् होता. परन्तु विवर्तवादमें जो वेदोंका सिद्धान्त आत्मा है वह बहुत बडी निगरानी करनेवाला साक्षी रहता है वह बदलता नहीं है किन्तु संकल्प बदलता रहता है।

(४५)-संकल्प वास्तवमें कुछ नहीं इस कारण आत्माका गुण नहीं है और न उसमें नया उत्पन्न होनेवाला है इस कारण आत्मा संकल्पके कारण गुणवान् भी नहीं है और न उसमें कहा गया (मारूज)

है और जिस प्रकार ऊपरके दृष्टान्तमें सर्पका ध्यान झूठा है इसीप्रकार यह संकल्प या मन भी झूँठा है इसे संस्कृतमें कल्पित और मिथ्या कहते हैं जिस प्रकार सर्पके ध्यानकी रस्सी घर है इसी प्रकार आत्मा भी इस संकल्पका घर है, तब भी जिस प्रकार सर्पके ध्यानका घर रस्सी उससे लिप्त नहीं होती इसी प्रकार आत्मा भी संकल्पसे लिप्त नहीं होता और ज्योंका त्यों शुद्ध रहता है।

(४६)-अब यों समझो, कि संसारके ध्यानमें इस संकल्पकी दो प्रकारसे चाल होती है। उसकी पहली चञ्चलता तो तत्व और मनुष्य आदि हैं परन्तु जब मनुष्य प्रकट होता है तो वही संकल्प उसके हृदयाकाशमें संकल्प पाकर संसारकी आकृतिमें दूसरी लहर मारता है जिस प्रकार कि स्वप्नमें अच्छे प्रकारका होता है, परन्तु जब यह इन्द्रियोंके मार्गसे फैलता हुआ अपने पहले ध्यानके अनुसार उसी आकृतियें बदलता है तो संसारको दोहरे संकल्पसे बनाता है और मनुष्यके देखनेका कारण होता है। इस प्रकार ईश्वरकृत और जीवकृत सृष्टिसे डबल बना हुआ संसार सत्यसा दिखाई देता है वास्तव में संकल्पमय है कुछ अस्लियत नहीं रखता और न होने बराबर है उसकी कुछ भी सत्ता नहीं है।

(४७)-इसी संकल्पकी पहली (हरकत) चेष्टाको माया बोलते हैं और इसी संकल्पकी दूसरी चेष्टाको मन कहते हैं, वास्तवमें दोनों एक हैं मनुष्यके मनके संकल्पके कारण और कर्मोंके सम्बन्धके कारण मन तो सूक्ष्म और असत्काम तथा असत्संकल्प है और माया (लामुहन्ती) बहुत बड़ी और सत्संकल्प तथा सत्काम है इसकारण भेद है। वही आत्मा जो मायाका घर है और उसमें प्रतिबिम्बित होता है तो ईश्वर कहलाता है और वही आत्मा मनका महल और उसमें चमकता हुआ होता है तो जीव कहलाता है।

(४८)-परन्तु जब माया और मनको दूर करके एक शुद्ध आत्मा की पहचान होती है तो उसीको ब्रह्म कहते हैं इस प्रकार प्रकट करने वाली मायासे यह आत्मा ईश्वर कहलाता है और प्रकट करनेवाला मन जीव कहलाता है और प्रकट करनेवालेके विना अपने कारण यह ब्रह्म कहाता है इस प्रकार एक ही आत्मा तीनसा होगया है, परन्तु तीन नहीं हुआ है वास्तवमें एक है। ....

(४९)—जब प्रकट हुआ क्या मन क्या माया सब वास्तवमें मन है (परन्तु ईश्वरीय संकल्पका नाम माया है और मनुष्यके संकल्प का नाम मन है) अतएव क्या मायारचित क्या मनोरचित सब वस्तुएँ संकल्पमयी हैं, आत्मा-ब्रह्म-उनकी खान है परन्तु संसार माया और मनसे रचित दुगने ख्यालसे बनाया गया है इस लिये जिज्ञासुको सत्य प्रतीत होता है।

(५०)—जब यह मनुष्य सोजाता है तो उसके सङ्कल्पका संसार दूर होजाता है, मस्तिष्कके भीतर अपने सङ्कल्पका इकहरा संसार बनालेता है और यह संसार एक सङ्कल्पका होता है [बेतरतीब] अनियमित होता है क्योंकि—मनुष्यका सङ्कल्प क्षण२ में बदलता है तथा कर्मोंके वशमें होता है स्वप्नके भोगमें उसके जैसे कर्म होते हैं वैसा उसका सङ्कल्प उठता है।

(५१)—जब यह जगता है तो उसका सङ्कल्प नेत्रोंसे बाहर निकलता है और ईश्वरके सङ्कल्परचित संसारमें फैलता है, जिस प्रकारका वह संसार होता है उसी तरह पर एक (तख़य्यल) उसे दुगना बनाता है और हम इस बातको पहिले लिख चुके हैं, कि—ईश्वरका संकल्प कल्प तक रहता है इस कारण ईश्वरकी संकल्पमयी वस्तुएँ बहुत समय तक स्थिर रहती हैं और उसका सङ्कल्प कर्मके अधीन है युक्ति और क्रमसे उसे रचता है, मनुष्यका संकल्प जाग्रत् में उसीके अनुसार होता हुआ उसको सत्य देखता है, क्योंकि—एक तो वह माया की पहली तहके कारण स्वप्नकी अपेक्षा सिलसिलेवार और युक्तसा होता है परन्तु जब यह सोजाता है तो उसके संकल्प की तह उतर जाती है परन्तु पहले संकल्पकी आकृतियें वर्त्तमान रहती हैं।

(५२)—जब यह निद्रासे निकलता है तो फिर यह संकल्प उन्हीं आकृतियोंमें पड़ता हुआ उन्हीं आकृतियों पर उठता हुआ उसे दुगना बनालेता है और उनको ही देखता हुआ सत्य मानता है परन्तु जिसप्रकार निद्रामें मनके दूर होने पर उसकी एक तह दूर होजाती है इसप्रकार कल्पमें अथवा नियतसमयपर पहिली तह भी दूर होजाती है इसलिये क्या मन क्या माया इन सबकी संकल्प ही खान है और संकल्प वास्तवमें आत्माकी छाया है इसकारण आत्मा सब

कामोंकी और सब इच्छाओंकी खान है। परन्तु मायाकी अवस्थामें तो सत् संकल्प सत्काम होता है। क्योंकि—यहाँ वह दूसरोंके भोगमें तो कर्मके अधीन है और अपने भोग ऐश्वर्यमें स्वाधीन है जैसा चाहता है वैसा पाता है।

(५३)—यही आत्मा दूसरी फैलावट (मन) में स्वाधीन नहीं होता क्योंकि—प्रत्येक समय अविद्या और कर्मभोगके वशमें रहता है इसकारण जो चाहता है उसको नहीं पाता और दुःखी होता है, वास्तवमें माया और मन एक हैं तब झूठी अविद्याके कारणसे माया इसी हृदयकमलमें अपना काम करती हुई उसको इसप्रकार ढकती रहती है जिसप्रकार नदीका स्वच्छ जल सिवार और झागोंसे ढका हुआ रहता है।

(५४)—इसकारण मनुष्य मृत्यु और ज्ञानसे पहले उसको नहीं पाता, परन्तु जब पहले ज्ञानसे अविद्याके परदेको दूर करके सबकी खान आत्माको जानजाता है और फिर मरता है तो यही माया उस के लिये विना परदेवालेकी समान होती है और छायाकी समान उस से मिलजाती है और उसीके वशमें रहती है और वह (सङ्कल्प) हिक्मत और तरतीवसे रहता है जब तक चाहे स्थिर रहता है यद्यपि वह संकल्पमय है परन्तु इस संसारसे भी अधिक सत्य प्रतीत होता है, यही माया है। इसी कारण इच्छाओंके पानेमें कारणीभूत आत्माकी पहिचान आवश्यकीय है और उसकी पहिचानसे सब इच्छाएँ मुफ्तमें ही पूर्ण होजाती हैं।

(५५)—क्यों कि—यह आत्मा ही वास्तवमें इष्ट है—प्यारा है इस कारण औपाधिक मन अथवा मायाकी वृत्ति संसारके भोग अथवा ब्रह्मलोकके भोग सबके सब इसीके कारणसे प्यारे हैं, यदि इसके अनुसार न हों तो वे अच्छे नहीं लगते। जब यह आत्मा ही सबसे अधिक प्यारा और सत्य है और दूसरे पदार्थ भी इसी आत्माकी पहचानसे मुफ्तमें मिलजाते हैं, तो मनुष्योंको उचित है, कि—आत्माको ही जानें इसीसे प्यार करें और उसको ही पानेका उद्योग करें, भोग तो उसे छायाकी समान मिलजाते हैं अतएव पहले ब्राह्मण आत्माको पहचान कर संसारके भोगोंसे उपराम पाते हुए संन्यासको ग्रहण करलेते थे।

(५६)-क्या यह बात सत्य नहीं है, कि-जिसको दीपक मिल-जाता है उसको सब प्रकाश मिलजाते हैं अथवा जो सूर्यको प्राप्त होजाता है तो वह सब दिवसोंका और सब वर्षोंका मालिक होजाता है क्यों कि-क्या प्रकाश क्या दिन क्या वर्ष और क्या महीना इन सबकी खान सूर्य है? परन्तु जो एक सूक्ष्म किरणको चाहता है और उसको पालेता है वह दूसरी किरणोंका स्वामी नहीं होसकता और वह एक किरण भी सर्वदाके लिये उसकी मिल्कियत नहीं होसकती।

(५७)-इसीप्रकार मनुष्य भी आत्माकी पहिचान किये विना कर्म करके किसी एक इच्छा संसार अथवा स्वर्गको प्राप्त करलेता है तो दूसरी इच्छा अथवा लक्ष्योंका स्वामी नहीं होसकता और यह स्वर्ग अथवा संसार भी उसकी मौरूसी मिल्कियत नहीं होजाती क्योंकि-बनाहुआ दूर होजाता है परन्तु जो सब इच्छाओंकी खान इस आत्मा की खानको पाजाता है वह सचमुच सब लक्ष्यस्थानोंका मालिक हो जाता है जिसप्रकार ईश्वर स्वयं सर्वदा जीवित रहता है वैसे ही सफलता भी सर्वदा रहती है।

(५८)-सज्जनो! यह बातें हमारी कपोलकल्पना नहीं हैं सत्य हैं विश्वास करो और अपने आत्माको पहचानो, उसीमें विचारकरो और उसीको पाओ, कि-यही सब अच्छी वस्तुओंकी खान है। यदि तुमको हमपर विश्वास न हो तो हम तुमको वेदोंका प्रमाण देते हैं, कान देकर सुनो, कि-पिछले ब्राह्मण किसप्रकार इसको जानते हुए संन्यास लेलेते थे और किसप्रकार इसकी पहचानमें सफल होते थे।

(५९)-हमने सुना है, कि-याज्ञवल्क्य मुनिकी दो स्त्रियें थीं। एकका नाम मैत्रेयी था और दूसरीका नाम कात्यायनी था। कात्यायनी ब्राह्मणी गृहस्थीके कामकाजमें बड़ी बुद्धिमान् और चतुर थी और संसारकी विद्याको भलीप्रकार जानती थी परन्तु दूसरी स्त्री मैत्रेयी इन बातोंके अतिरिक्त आत्माको भी पहचानना चाहती थी और आपसमें प्रेमपूर्वक रहती थी।

(६०)-हम यह भी सुनते हैं, कि-याज्ञवल्क्य मुनिके पास बहुत धन था क्योंकि-जनक आदि सब राजे उनको बहुत धन देकर उनसे ज्ञान पाते थे। जब यहमुनि वृद्ध होगए तब उन्होंने संन्यास लेना चाहा अर्थात् संसारको छोड़ना चाहा क्योंकि-जो अपनी आत्माकी पहचान

जाते हैं वे भोगोंकी इच्छा नहीं रखते छायाकी समान उनको झूठा जानते हैं उन्हें छोड़ना कुछ कठिन नहीं है। जब मुनिका यह विचार पक्का होगया तब उन्होंने अपनी स्त्री मैत्रेयी ब्राह्मणीको बुलाते हुए कहा, कि-अरी मैत्रेयी! मैं अब यहाँसे चलनेको उद्यत हूँ फिर लौट कर नहीं आऊँगा अतः मैं अपना यह धन तुम दोनोंको अपने सामने बाँट देना चाहता हूँ।

(६१)-मैत्रेयीने कहा, कि-हे महाराज! क्या मैं इस धनके भाग को पाकर अविनाशी (सर्वदा जीवित रहनेवाली) होजाऊँगी तो उन्होंने उत्तर दिया, कि-अरी नहीं तू उसीप्रकार जीवित रहेगी जिस प्रकार धनवान् जीवित रहते हैं। तब उसने उत्तर दिया, कि क्या इससे भी अधिक मिलने पर मैं अविनाशी अर्थात् अमर होजाऊँगी तब याज्ञवल्क्यजीने कहा, कि-अरी नहीं यदि धनसे भरीहुई सब पृथ्वी भी तुझे मिलजावेगी तब भी तू अमर नहीं होसकेगी, इसीप्रकार जीवित रहेगी जिसप्रकार धनवान् जीवित रहते हैं धनसे सर्वदा जीवित रहने की आशा नहीं करना चाहिये।

(६२)तब मैत्रेयीने कहा, कि-जब धनसे मुझे अमृत रहनेकी आशा नहीं है तो मैं धनका भाग लेकर क्या करूँगी? सब धन कात्यायनी को ही देदीजिये और मुझे तो उस धनका अंश दीजिये जिसको पाने पर मैं सर्वदा जीवित रहूँ। आप जिस धनको पाकर इस धनको यों ही छोड़े जाते हैं और इस धनको तुच्छ समझते हैं उस धनको ही मुझे दीजिये।

(६३)-तब याज्ञवल्क्यजीने कहा, कि-हे प्रियतमे! तूने बहुत अच्छी बात कही और बहुत धन माँगा। तू पहले भी इसी कारणसे मुझे सर्वदा प्रिय लगती थी। अब तू मेरे पास आ, मैं तुझे सर्वदा जीवित रहनेकी शिक्षा देता हूँ। जिसको पाकर मैं इस संसारके धनको मैले की समान तुच्छ जानकर छोड़े जाता हूँ उस धनको भलीप्रकार मन लगाकर ग्रहणकर और मैं जो कुछ सिखाऊँ उसका निदिध्यासन कर।

(६४)-तब ऋषिने उसको इसप्रकार उपदेश दिया, कि-अरी मैत्रेयी पतिके लिये पति प्यारा नहीं होता है अपने लिये ही पति प्यारा होता है। अरी मैत्रेयी! स्त्री भी स्त्रीके लिये प्यारी नहीं होती है किन्तु (आत्माके लिये) अपने लिये प्यारी होती है।

(६५)-अरी मैत्रेयी! सन्तान भी सन्तानके लिये प्यारी नहीं होती है किन्तु अपने लिये ही सन्तान भी प्यारी होती है । अरी मैत्रेयी ! धन भी धनके लिये ही प्यारा नहीं होता है, किन्तु अपने लिए ही प्यारा होता है ।

(६६)-अरी मैत्रेयी! ब्रह्मधर्म भी ब्रह्मधर्मके लिये प्यारा नहीं लगता है किन्तु अपने लिये ब्रह्मधर्म भी प्यारा लगता है ।अरी मैत्रेयी! क्षत्रिय धर्म भी क्षत्रियधर्मके लिये प्यारा नहीं लगता है किन्तु अपने लिये ही क्षत्रिय धर्म भी प्यारा लगता है ।

(६७) अरी मैत्रेयी! लोक भी लोकोंके लिये प्यारे नहीं लगते हैं किन्तु अपने लिये ही लोक भी प्यारे लगते हैं अरी मैत्रेयी! देवता भी देवताओंके लिये प्यारे नहीं लगते हैं किन्तु अपने लिये प्यारे होते हैं।

(६८)-अरी मैत्रेयी ! तत्व भी तत्वके लिये प्यारा नहीं लगता । किन्तु अपने लिये ही तत्व प्यारा लगता है अरी मैत्रेयी ! शरीर भी शरीरके लिये प्रिय नहीं है किन्तु अपने लिये शरीर भी प्रिय होता है। अधिकक्या कहूं क्या मन क्या इन्द्रिय क्या भीतरी पदार्थ क्या बाहरी पदार्थ यह सब के लिये प्यारे नहीं है किन्तु सब आत्माके लिये ही प्यारे हैं ।

(६९)—इसकारण आत्मा ही वास्तवमें सबसे प्यारा है और यही सर्वदा जीवित रहता है और उसीके लिए सब प्यारे हैं सब उसीके गुण हैं सब उसीकी छायायें हैं, इसीको पाकर सर्वदा जीवित रहते हैं इसीके द्वारा सब मतलब और सब इच्छायें मुफ्तमें ही छायाकी समान मिलजाती हैं । अरी ! इसी आत्माको देखना चाहियें इसीको सुनना चाहिये, इसीका मनन करना चाहिये, इसीका निदिध्यासन करना चाहिये ।

(७०)—अरी मैत्रेयी ! आत्माके देखने सुनने और पहिचाननेसे सब वस्तुएँ देखी सुनी और पहचानी हुई होजाती हैं. आत्माके प्राप्त होने पर सब इसप्रकार प्राप्त होजाती हैं जिस प्रकार सूर्यको पाने पर धूप स्वयं ही मिलजाती है और यदि दीपक मिलजाता है तो प्रकाश स्वयं मिलजाता है ।

(७१)—ऐसे ब्राह्मणसे भी दूर रहना चाहिए जो ब्रह्मको आत्मा से पृथक् जानता हो और जो क्षत्रिय क्षत्रियको आत्मासे पृथक जानता

है उस क्षत्रियसे भी दूर रहना चाहिये और ऐसे लोकोंको भी दूर करना चाहिए जो लोककी आत्मासे पृथक् जानते हैं ।

(७२)—जो देवता देवताको आत्मासे पृथक् जानते हों उन देवताओं से भी दूर रहना चाहिए । जो तत्वोंके अधिष्ठात्री देवता तत्वोंको आत्मासे भिन्न जानते हों तो ऐसे तत्वोंसे भी दूर रहना चाहिये । अरी मैत्रेयी ! यह सब ब्राह्मण क्षत्रिय लोक देवता तत्व शरीर भीतरी और बाहरी पदार्थ और क्या यहाँ और क्या वहाँ सब इसप्रकार आत्मा है जिसप्रकार क्या इधरकी धूप क्या उधरकी धूप दाँई ओरकी धूप क्या बाँई ओरकी धूप क्या नीचेकी धूप क्या ऊपरकी धूप सबकी सब धूपें सूर्यरूप हैं इस प्रकार क्या ब्राह्मण क्या क्षत्रिय क्या लोक क्या परलोक क्या देवता और क्या तत्व क्या शरीर क्या प्राण सबके सब यही आत्मा हैं ।

(७३)—अरी ! जिस प्रकार यह सब आत्माके गुण आत्मरूप हैं इसका दृष्टान्त तू मुझसे सुन ! जिस प्रकार एक नक्कारा बजाते हैं तो उसमेंसे जो रागनी निकलती है तो वह सब उसी नक्कारेके शब्दका गुण है । अथवा जिस प्रकार एक नरसिंहको फूँकते हैं तो उसमें से जो ऊँचे नीचे स्वर निकलते हैं वे सब नरसिंहके शब्दके गुण होते हैं अथवा जिस प्रकार बीन बजाते हैं तो उस समय जो रागनियें निकलतीं हैं वे सब बीनके शब्दकी गुण होती हैं । इसीप्रकार यह सब इसी आत्माके गुण हैं ।

(७४)—अरी मैत्रेयी ! जिसप्रकार नक्कारे या तबलेके शब्द की पहिचान होने पर सब स्वर उसीके प्रतीत होते हैं और उसको पकड़ने पर सब स्वर अपने आप ही मिलजाते हैं अथवा जिस प्रकार नरसिंह के शब्दका ज्ञान होने पर उसके सब स्वरोंका स्वयं ही ज्ञान होजाता है, अथवा जिस प्रकार बीनके शब्दकी पहचान होने पर सब रागनियोंकी स्वयं ही पहचान होजाती है और बीनको पाने पर वे सब मिलजाते हैं इसी प्रकार इस आत्माके पहचाननेसे सबकी पहचान हो जाती है और इस आत्माकी प्राप्ति होने पर सबकी प्राप्ति होजाती है ।

(७५)—अरी मैत्रेयी ! इसी आत्मा को जान इसीको पहचान इसीको पा इसके जाननेसे सब जाननेमें आजावेंगे, इसकी पहचान होने पर सबकी पहचान होजावेगी और इसकी प्राप्तिसे सबकी प्राप्ति

होजायगी। यही अमृत है यही सर्वदा रहनेवाला धन है और यही सब का मूल है।

(७६)–जिस प्रकार जलती हुई आगमेंसे धुआँ चिनगारियाँ और लपटें पृथक् होकर उठती हैं। अरी ! इसी प्रकार इस आत्मासे क्या ऋग्वेद क्या यजुर्वेद क्या सामवेद और क्या अथर्ववेद ये सबके सब श्वासोंकी समान स्वयं ही उठते हैं अरी ! जिसप्रकार मनुष्य सरलतासे श्वास लेता है इसी प्रकार इस महान् आत्मासे यह वेद स्वयं उठते हैं। जितनी कथाएँ पुराण उपनिषद् श्लोक सूत्र भाष्य आदि जो कुछ दिव्य और मानुषी ज्ञान हैं वे सब इसीके गुण हैं और इसी के श्वास हैं।

(७७)–अरी देख ! जैसे सब नदियोंका एक समुद्र ही खान है। उसी प्रकार सब उष्ण और शीतल वस्तुओंका मांस और खाल ही खान है इन्हींको त्वचा भी कहते हैं। क्या मीठे और क्या फीके इन सब रसों की केवल जिव्हा ही खान है। और नीले पीले आदि सब रङ्गोंकी केवल नेत्र ही खान हैं और सुगन्ध दुर्गन्ध आदि सब गन्धोंकी एक नासिका ही खान है और सब शब्द भले हों या बुरे हों उनकी कान ही खान है और अच्छे बुरे सब संकल्पोंकी एक मन ही खान है।

(७८)–इसी प्रकार सब विद्यायें क्या कर्म क्या ज्ञान इन सबकी खान एक बुद्धि ही है, और पकड़ना छोड़ना आदि सब कर्मोंकी एक हाथ ही खान है भीतरी बाहरी सब आनन्दोंका एक उपस्थ ही खान है इसी प्रकार भले बुरी सब निकलने वाली चीजोंकी एक अपान ही खान है और क्या आना और क्या जाना इन सब गतियोंकी एक पाँव ही खान है, इसी प्रकार क्या ऋग्वेद क्या यजुर्वेद क्या सामवेद और क्या अथर्ववेद इन सब वेदोंकी खान एक वचन ही है और यह सब खानें भी इसीप्रकार इस आत्मासे निकली हैं अतः यही आत्मा सब खानों की खान है।

(७९)–अरी ! जिस प्रकार एक नमकका डला ही घुलकर समुद्र होरहा है और पानी दिखाई देता है इसी प्रकार यह संसाररूप होकर संसार दिखाई देता है तब भी समुद्रके थोड़ेसे जलको लेकर चखते हैं तो नमक ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार इस संसारमें जिसको भी पहिचाना जाय वह यही सच्चिदानन्द आत्मा ही पहिचाना जायगा।

सबका जीवन यह आत्मा सबमें इसीप्रकार व्याप्तहै जिस प्रकार नमक का डलो जलमें घुलाहुआ जलरूपही होता है इसीके द्वारा सब जीवित और उपलब्ध होरहे हैं।

(८०)—अरी ! जिस प्रकार किसी उपायसे जलमेंसे नमकको निकाल लिया जाय तो फिर फीका पानी ही बाकी रहजाता है इसी प्रकार जब यह सबका जीवन इन तत्वोंसे उठता है तो यह तबहीनष्ट होजाते हैं। यह (आत्मा) प्रेत नहीं होता है अनभिज्ञ पुरुष इसको प्रेत जान कर फिर कर्म करते हैं अरी ब्राह्मणी ! तू विश्वास कर जब इसप्रकार याज्ञवल्क्यने कहा।

(८१)—तब मैत्रेयी बोली अजी महाराज ! क्यों मुझे हैरान करते हो, आप ऋषि मुनि होकर भी कहते हैं, कि–मृत्युके पीछे भी यह प्रेत नहीं होता है तब मुनिने कहा, कि–अरी प्यारी ! मैं तुझे हैरान नहीं करता हूँ और सत्य कहता हूँ, कि–यह जानना ही ज्ञान है और यही पर्याप्त है इसकी पहचानके लिये यही बहुत है।

(८२)—क्यों कि–यह दूसरोंमें आया हुआ दूसरासा होजाता है देवतामें आया हुआ देवता, मनुष्योंमें आया हुआ मनुष्य और पशुमें आया हुआ पशु होजाता है परन्तु इन सबको छोड देता है तब इकला होजाता है प्रेत नहीं होता। प्रेत तब होता है जब यहशरीरको छोड देता है प्राणोंको नहीं छोडता। जब यह प्राणको भी छोड देता है और अपनी महिमामें स्थित होता है तब शुद्ध आत्मा होता है।

(८३)—जहाँ यह उनमें दोसा होता है तो दूसरा दूसरेको देखता है। दूसरा दूसरेको सूँघता है दूसरा दूसरेको चखता है दूसरा दूसरेसे बोलताहै और दूसरा दूसरेको जानताहै जहाँ फिरयह आत्मा होजाता है तो इकला होजाता है फिर कौन किसको देखे ? कौन किसको सूँघे कौन किसको सुने कौन किसको जाने और कौन किसको सोचे अरी जिससे यह सब जानते हैं उसे कौन जाने ? अरी ! जिससे यह सब देखते हैं उसको कौन देखे ? अरी ! जिससे यह सब समझते हैं उसे कौन समझे ? अरी ! जानने वालेको कौन जाने अरी ! सबके देखने वालेको कौन देखे ? यह तेरा आत्मा है और यही तू है इस प्रकार कह कर ऋषिजी चलदिये और गृहस्थीको छोड गए।

(८४)—इस उपाख्यानका तात्पर्य यह है कि-केवल आत्मा ही सत्य है। क्या संसार क्या परलोक सब उसीकी छाया वा प्रकाश है, इसको माया भी कहते हैं और क्या लोक क्या परलोक क्यास्वप्न और क्या सब वस्तुएँ इसीकी बनी हुई हैं जो इस मूल आत्माको पहचानता और पाता है तो असलके वशमें रहने वाली छाया तो स्वयं ही मिल-जाती है। यह आत्मा अविनाशी है जब इसमें अहङ्कार करता है तो अविनाशी होजाता है और छाया तो बदलती रहती है और नष्ट होजाती है इस कारण छायासे बने हुए शरीरमें अविद्याके कारण अहङ्कार होता है और उसकी मृत्युसे वह अपनी मृत्युका विश्वास करताहै

(८५)—परन्तु जब ज्ञानसे शरीरको दूसरा और छाया जानताहै और आत्मामें अभिमान करता है तो अविनाशी होता है इस शरीरके अलग होने पर ब्रह्मलोकके भोग छायाकी समान मुफ्तमें ही मिल-जाते हैं, परन्तु जो पुरुष अपनी आत्माको नहीं जानतेऔर शरीरमेंही अहङ्कार रखते हैं वे अज्ञानी हैं और वे शरीरके मरनेसे मरते हैं और उत्पन्न होनेसे उत्पन्न होते हैं, इसी कारण मैत्रेयीके मुझे सदा जीवन दो इसप्रकार कहने पर ऋषिने आत्माकी शिक्षा दी थी, और उससे मैत्रेयीने सर्वदा रहनेवाला जीवन पाया था अबभी जो कोई आत्माको इस प्रकार पहचानता है, कि-मैं तो पूर्ण सच्चिदानन्द आत्मा हूँ, और मेरे सब गुण मेरे संग हैं। वह मैत्रेयीकी समान सर्वदा रहनेवाले जीवनको पाता है।

(८६)–सब विषय भोग और इच्छाएँ छायाकी समान हैं और छाया का यह हिसाब है, कि-जो कोई अपनी छायाको पकडना चाहता है और उसको पकडनेके लिये उसकी ओर दौडता है तो छाया भी उससे आगे भागतीहुई चली जातीहै और हाथ नहीं आती परन्तु जो उसको नहीं चाहता है वह जिधर जाता है छाया स्वयं ही उसके पीछे लग जाती है।

(८७)–इसीप्रकार अनजान मनुष्य सूक्ष्म शरीरमें अहङ्कार करता हुआ आत्माकी छाया धन और भोगोंकी इच्छा करता हुआ उनको लेना चाहता है और उनकी ओर दौड़ता है, परन्तु वह तो उसकी छाया है उससे अधिक दौडती है और हाथ नहीं आती और उतनीही मिलती है जितनी उसके पैरोंके नीचे दबी हुई उससे सम्बन्ध रखती

है, जो व्यक्ति कर्मोंके कारण भोग चाहते हैं वे उतना ही भोग पाते हैं जो उनके कर्म के अधीन है सब नहीं मिलते ।

(८८)-परन्तु जो आत्मा आत्माको वास्तवमें जानता है और उस में वास्तविक अहङ्कार पाजाता है और नाशवान् छायाको तुच्छ जानता हुआ उसकी इच्छा नहीं करता और संन्यास धारण करलेता है तो सब वस्तुएँ और सब भोग छायाकी समान उसके पीछे दौडते हैं वह नहीं चाहता परन्तु वह स्वयं आजाते हैं क्योंकि-छाया विचारी असल के विना कहाँ रहे और कहाँ जावे इसी प्रकार शीलवान् नहीं चाहता तो भी इच्छाके विना भी भोग उसको मुफ्तमें ही मिल जाते हैं ।

(८९)-जब तक छायासा शरीर स्थिर रहता है तब तक कर्मोंके सम्बन्ध से उतने ही भोग मिलते हैं जितने कि-कर्मोंके अधीन हैं । जब यह शरीर छोडता है तो कर्मोंका सम्बन्ध भी दूर होजाता है ब्रह्म लोकके भोग उसके पीछे स्वयं ही पडजाते हैं तब वह सत्संकल्प और सत्काम होजाता है ।

(९०)-यही कारण था, कि-मैत्रेयीने धनका भाग न लिया नित्य जीवनका भाग चाहा क्योंकि-यह वस्तुएँ तो स्वयं छायाकी समान आत्माके साथ रुक झुकमें मिलजाती है और यही कारण था, कि-याज्ञवल्क्य मुनिने इतना अधिक धन होते हुए भी उस सबको इस प्रकार छोड दिया जिसप्रकार कोई घरका मैला बाहर फेंक देता है ।

(९१)-हे सज्जनो ! भारतवर्षमें मैत्रेयीसी स्त्रियें थीं, कि-जो तुच्छ संसार और तुच्छ धनकी ओर देखती भी नहीं थीं, तुम तो भारतवर्षके मर्द हो, फिर क्यों रात दिन संसारकी उन्नति करनेमें और धनको उत्पन्न करनेमें अपनी भी खबर नहीं रखते? तुम बचपन में पश्चिमी विद्याकी शिक्षा पानेमें और संसारके कानून तथा परीक्षाओं के पास करनेमें परिश्रम करते रहते हो फिर युवावस्थामें धनोपार्जन करनेमें और भोगोंके भोगमें आयुको खोदेते हो खेद है, कि-तुम वृथा ही प्यारी आयुको खोदेते हो ।

(९२)-तुम आयुको भी वर्बाद करदेते हो और सब भोग भी तुमको नहीं मिलते उतने ही मिलते हैं जितने कि-तुम्हारी प्रारब्धमें हैं क्योंकि-वह तो तुम्हारी छाया हैं उनकी ओर जितना दौड़ोगे वह तुम से पहले ही दौड जावेंगी हाथ नहीं आसकते छायारूपहैं तुम कैसे अल-

जान हो वह सामनेको भागी जाती है और तुम उसके पीछे पड़े जाते हो छाया नहीं थकेगी और तुमही अन्तमें थक कर गिर जाओगे, जब तुम्हारी मृत्यु होजायगी तब बी० ए० की परीक्षा कहाँ रहजायगी और तहसीलदारी कहाँ रहजायगी और फिर कमिश्नरपनकी आशा भी कहाँ को चली जायगी उस समय तो फिर जन्ममरणरूप संसार सामने ही बना रहेगा, कहीं गधे बनकर लादे जाओगे और कहीं बैलके जन्ममें मार खाओगे, इस लिये अभीसे क्यों नहीं संभलते आओ मेरी बात सुनो।

(९३)–इस लोभको त्यागो अपनी आत्मासे प्रेम करो तुम ज्यों २ इन इच्छाओंको त्यागोगे त्यों २ वे तुम्हारे पास आवेंगी। इसी कारण लिखा है "बिन माँगे मोती मिलें, माँगे मिलें न भीख" तुमको उचित है कि–असलको पाओ नकल तो अपने आप ही साथ रहता है अरी! अविद्या तेरा सत्यानाश हो तू हमारे भारतवर्षमें क्यों आगई और तूने ऋषि मुनियोंकी सन्तानको क्यों दबा लिया है।

(९४)–अब यह अनर्थ होरहा है, कि–ऋषियोंकी सन्तान पश्चिमी विद्याकी शिक्षा पाकर वेदोंमें लौट फेर करना चाहते हैं और नव नए समाज बनाकर अपनी कपोलकल्पनासे इस प्रकार भक्ति करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी करते हैं और दूसरे पुरुष जिस प्रकार अंधेरेमें मुर्गे लडते हैं इस प्रकार ब्रह्म समाज बनाकर प्रश्नोत्तर करके सब पत्रिकाएँ निकालते हैं और ऋषि मुनियोंपर अल्पविद्य होनेका दोष लगाते हैं। यद्यपि वे कुछ नहीं जानते तब भी बी० ए० पास होनेके कारण अपनेको विद्वान् जानते हैं।

(९५)–क्यों कि–वह विरोचनकी समान अपने शरीरके अतिरिक्त और किसीको आत्मा नहीं जानते और अपने शरीरकी रक्षा तथा भोगोंके लिये तथा संसारकी उन्नतिके लिये अपने विचारोंके अनुसार देशकी उन्नति करते हैं और पश्चिमियोंकी समान भारतवासियोंको मूर्ख और जँगली समझते हैं।

(९६)–हे भाइयो! पहले तुम अपने आपेको पहचानो, कि–तुम्हारा क्या स्वरूप है? जबतक कोई पहले अपने आपेकोही नहीं जानता तब वह दूसरेको क्या जान सकता है जो अपने आपेकी संभाल नहीं रखता वह बावला होता है क्योंकि–बावलेको यही कहते हैं, कि–वह तो अपने

भी खबर नहीं रखता जबकि-तुम अपने आपेकी भी पहचान नहीं रखते तो बी०ए०की परीक्षाको पास करके विद्यावान् ऋषि मुनि नहीं होसकते अतः ईश्वरीय ज्ञानको कैसे पासकते हो? यदि ईश्वरीय ज्ञानको नहीं पा सकते तो आर्यसमाज ब्रह्मसमाज और संगठन आदि समाजोंसे क्या लाभ है ?

(९७)-मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कि-तुम इसप्रकारकी देशकी उन्नति करनेसे बाज आओ पहले अपने स्वरूपकी पहचान करो स्वाभाविक बावलेपनसे निकल आओ फिर देखना किसमें देशकी उन्नति होती है हे भाइयो ! मेरी शिक्षा कहीं तुमको बुरी न लगजाय इसलिये मैं तुमसे अधिक बात नहीं कहता और मतलबकी बात पर आता हूँ माया आत्माकी छाया है और सब मायामय हैं आत्माके पानेसे सब मुफ्त मिलजाते हैं और उनको छोड़नेसे वे पीछे पड़ते हैं और उनकी इच्छा करने पर आगेको भागते हैं अतः बुद्धिममान् पुरुष उनकी इच्छा नहीं करता ।

(९८)—यह नहीं समझना चाहिये, कि-"जब माया छाया है और उनका संसार भी मायाका बना हुआ है तो जिस प्रकार धूप भी सूर्य की छाया है और स्वाभाविक रीतिसे जिसप्रकार उससे उतरती है इसी प्रकार आत्मासे माया भी स्वाभाविकरीतिसे उतरती होगी अथवा जैसे सूर्य यदि चाहे कि-धूप उससे न उतरे तो ऐसा नहीं होसकता तो इसी प्रकार आत्मा भी विवश होगा, कि-उससे संसार होता रहे और वह उसमें फँसा रहे" और मायाको छायाकी समान इस विचारसे कहा है, कि-जिस प्रकार सूर्यकी धूप या मनुष्यकी छाया सूर्य या मनुष्यके विना कुछ सत्ता नहीं रखती और उसीका गुण तत्स्वरूपही है ।

[९९]-माया अविद्या तक तो अवश्य विवश करती है और अविद्याके दूर होजाने पर, इस प्रकार वशमें है जिस प्रकार ईश्वरके वशमें रहती है, क्योंकि-माया स्वयं ही इस प्रकार वस्तुयें नहीं बना सकती जिस प्रकार मट्टी स्वयं ही प्याला नहीं बन जाती और कुम्हार जैसा चाहता है तैसी मूर्त्तिको धारण करती है इसी प्रकार आत्मा जैसा चाहता है वैसे ही माया भी वस्तुओंके और इच्छाओंके रूपमें बदलती रहती है । "माया स्वयं आत्माके भोग और मुक्तिके लिए रूप

बदलती रहती है" यह कपिल मुनिका विचार है परन्तु ठीक नहीं है और वेदकी श्रुतियोंके प्रतिकूल है।

(१००)-क्योंकि—माया वास्तवमें जड है जड़वस्तुएँ आप ही नहीं बदलसकतीं उनको बदलाने और बनानेके लिये चेतन आत्माकी आवश्यकता है। सूर्य और धूप यह दोनों तो जड़ हैं इसकारण सूर्यके वशमें धूप नहीं है परन्तु आत्मा चेतन है माया उसके वशमें रहती है जिस प्रकार वह चाहता है उसको नाच नचाता है;वह उसका ही गुण है,उससे पृथक् उसकी कुछ सत्ता नहीं है,तब भी वह उसके वशमें है।

(१०१)-देखो! मनुष्यका उठना बैठना अथवा चलना फिरना मनुष्यके गुण (धर्म) हैं, तब भी उसके वशमें हैं। क्योंकि—जब वह चाहता है तो उठता है, जब वह चाहता है तो बैठता है, जब वह चाहता है तो चलता है और जब नहीं चाहता तो नहीं चलता,देखा! उठना बैठना अथवा चलना फिरना उसके ही गुण और उसकी ही छाया हैं तब भी उठना बैठना अथवा चलना फिरना उसको बाध्य नहीं करता।

(१०२)-इसी प्रकार माया भी आत्माका गुण और आत्माकी छाया है तब भी आत्माको विवश नहीं करसकती और वह जिस प्रकार चाहता है उसी प्रकार नाचती है जैसे मनुष्य भी जिस प्रकार चाहे उसी प्रकार छायाका चलासकता है,अतः कपिल मुनिके सिद्धांत को किस प्रकार ठीक समझा जाय? और आदिसृष्टिके समय श्रुतियों में आत्माकी इच्छा सुनते हैं, कि-"उसने चाहा, कि-मैं अकेला हूँ बहुत होजाऊँ" और ऐसा ही होगया जब श्रुति भगवती घोषित करती है, कि-आरम्भमें आत्माकी इच्छानुसार संसार उत्पन्न होता है तब कैसे समझा जासकता है,कि-नैसर्गिक रीति पर उससे जगत् उत्पन्न होता है।

(१०३)-कणाद और उनके शिष्य तथा वर्तमानमें आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द और उनके शिष्य विचार करते हैं, कि-सब वस्तुओंके परमाणु अथवा छोटे २ जर्रे कि-जिनके और टुकड़े नहीं होसकते आत्माके साथ हैं और उन्हींकी तरकीबसे यह संसार बनता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि-अकेले आत्मामें जब कुछ भी नहीं था उस समय उसने सब कुछ बनाया, ऐसा वेदोंमें प्रमाण मिलता है।

(१०४)-जब कि-हमें उस समय अकेला और एक होनेका प्रमाण मिलता है तो हम किस प्रकार विश्वास करलें, कि—उसके साथ परमाणु भी थे ? क्योंकि-तब तो वह फिर अकेला नहीं रह सकता और श्रुति दृढ़तापूर्वक विश्वास दिलाती है, कि-वह ऐसा अकेला था कि-कल्प तक कुछ भी तहाँ पर नहीं था ;" जब कि-श्रुति प्रमाणित करती है, कि—जो परमाणुवादी परमाणुओंको संभवसत् मानता है कल्प तक भी नहीं मानता तो उस समय कैसे विश्वास करसकती है ? कि—बहुतसे पुरुष वेद विरुद्ध अपनी कपोलकल्पना करते हैं अतः वह माननेके योग्य नहीं हैं ।

(१०५)-उनका यह आक्षेप कि-जब वह ऐसा अकेला था तब उसने किस प्रकार इच्छा की और उसने किस प्रकार तथा किस शक्ति से और किस औजारसे संसार बनाया, उचित नहीं है, क्योंकि-हम उस को परमशक्तिमान् सुनते हैं और सर्वज्ञ जानते हैं । वेदोंके मन्त्र प्रमाणित करते हैं, कि-वह विना हाथोंके पकडता है, विना पैरोंके चलता है विना आँखोंके देखता है और विना कानोंके सुनता है ।

(१०६)-इसी प्रकार यह मनके विना सोचता समझता और इच्छा करता है, यही उसकी माया (ज्ञान) है और इसी मायासे वह सामान और औजारोंके न होने पर भी संसारको बनाता है और आप ही प्रत्येक मायामें आया हुआ प्रकट रहता है, तब फिर उसको परमाणुओंकी क्या आवश्यकता पडसकती है और औजारोंकी भी क्या आवश्यकता है वह जो चाहता है सो करता है और परम स्वाधीन है।

(१०७)-वह अकेला है परन्तु नानारूप वाला होजाता है आत्मस्वरूप है परन्तु दूसरा होजाता है, उसको कुछ कठिनाई नहीं पड़ती और कपिलका यह विचार भी ठीक नहीं है, कि—प्रकृति स्वयं ही संसार बनजाती है क्यों कि-जिस प्रकार एक बड़ा चतुर इञ्जीनियर इमारत बनाता है और कोठियों तथा इमारतोंकी नींव डालता है इसी प्रकार ये आत्मा भी सब कुछ करता हुआ अकर्ता है ।

(१०८)-यह नहीं समझना चाहिये कि-चतुर इञ्जीनियर सामान और औजारोंका मुखापेक्षी रहता है जब तक उस अकेलेके पास सामान नहीं होगा तो वह चतुर इञ्जीनियरकी समान संसारको किस प्रकार बनासकता होगा ? देखो ! जिस प्रकार स्वच्छ जलमें आलोडन

करनेके कारण झाग और बुद्बुद आदि शाखें निकलती हैं इसी प्रकार स्वच्छ और स्थिर आत्मामें मायाका उफानरूप संसार बनता है।

(१०९)-सत्य बात तो यह है, कि-जिस प्रकार एक चतुर जादूगर औजार और सामानके बिना ही आकाशमें उड़ता और उतर आता है इसीप्रकार यह आत्मा भी जादूगरकी समान संसारको बनाता है परन्तु वास्तवमें नहीं बनाता, इसी कारण संसार उसका तिलिस्मखाना कहलाता है, तिलिस्मको ही माया कहते हैं और जादूगरको मायावी कहते हैं, अत एव वेदकी श्रुतियाँ कहती हैं, कि-मायाको प्रकृति जानो और मायावीको महेश्वर जानो। इसप्रकारके मन्त्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि-इसकी माया ही (जो तिलिस्म है) संसारका उपादान है और उसकी सत्ता मायवी उसका कर्ता है बस माया तो बदलती है परन्तु मायावी नहीं बदलता और वह जिस प्रकार चाहता है प्रत्येक रूपमें आजाता है। यही सत्य है यही वेदके अनुकूल है जो कोई इसके प्रतिकूल विश्वास करता है वह नास्तिक है और उसने अद्वैतकी गन्ध भी नहीं सूँघी।

(११०)—पाश्चात्य शिक्षाभिमानी यह विचारते हैं कि—ईश्वर अभावसे भाव करता है। परन्तु उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्यों कि—असत्का भाव नहीं होसकता और सत्का अभाव नहीं होसकता यदि ऐसा हो तो असत् (नेस्त) से सब कुछ उत्पन्न होजाय, और बाँझका लड़का, गधेके सींग और आकाशका फूल भी हो जाय। परन्तु यह संभव नहीं है इस लिये उनका ध्यान करना ही व्यर्थ है।

(१११)—यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि—वह निरपेक्ष है संसारके बनानेकी उसे क्या गरज है क्यों कि-जो काम प्रयोजन रहित होता है वह निरर्थक होता है और जो कोई किसी प्रयोजनसे करता है वह (गनी) निरपेक्ष नहीं होता? अब इसप्रकार समझना चाहिये, कि-जिस प्रकार एक सुन्दर पुरुष अपनी ही सुन्दरतामें (गनी) निरपेक्ष हो तब भी दर्पणमें अपना मुख देख २ कर प्रसन्न होता है इसी प्रकार यह महाप्रभु परमात्मा अपने देखनेके लिये संसारको बनाता है।

(११२)—क्यों कि-जिस प्रकार एक रूपवान् मालदार एक कोठी बनाता है उसमें एक शृङ्गारका कमरा बनाता है और उसमें शृङ्गारकी सेज बनाता है तथा उस पर मुख देखनेका दर्पण रखता है और उसमें

अपना मुख देखकर आनन्दित होता है, इसी प्रकार परमात्माने अपना दीदार करनेके लिये पृथिवी और आकाशकी एक बढ़िया कोठी बनाई है उसमें संसाररूपी श्रृङ्गारका कमरा बनाया है पृथ्वी उसमें श्रृङ्गारकी मेजकी समान है उस पर मनुष्य मुख देखनेका दर्पण बनाकर रक्खा गया है, क्यों कि-मनुष्यका शरीर तो दर्पणकी चौखटकी समान है और उसका मन शीशेके स्वच्छ टुकड़ेकी समान जडा हुआ है, उसके पीछे अविद्याकी कलई कीगई उसमें वह प्रतिबिम्बकी समान पडकर अपने आपको देखता है यही उसका विलास है और संसारको उत्पन्न करनेकी इच्छा भी उसको इसी कारणसे होती हैं और कोई प्रयोजन नहीं है।

(११३)—जब (गनी) धनी दर्पणको देखता है तो उसका अपना धनीपन दूर रहीं होता इसीप्रकार आत्माभी अपना दर्शन करने के लिये मनुष्यमें आकर अपने निरपेक्षित धर्मको दूर नहीं करता है क्यों कि-मुख भी अपना एक अङ्ग होता है और वह दर्पणके विना दिखाई नहीं देता इसी प्रकार आत्मा भी जो अपना वास्तविक रूप है किस प्रकार दिखाई देसकता है ? क्यों कि-लिखा हुआ है, कि-जब यह आत्मा ही होता है तो कौन किसको देखे और सब यह एकसा होता है तो दूसरा दूसरोंको देखता है।

(११४)-इसीकारणसे मुख भी अकेला होता है तो वह अपने आपको कैसे देख सकता है किन्तु जब वह दर्पणमें आकर दूसरासा होता है तो दूसरा हुआ दूसरोंको देखता है। इस लिये आत्मा जो वास्तवमें एक है वह अपन आपको कैसे देखे ? इसी कारण अपना दीदार करनेके लिये वह भी अपनी मायासे संसारकी मूर्तिमें दूसरा और सत्यसा बना हुआ है मनुष्यके मनोरूपी दर्पणमें अपना रूप देखने को आया है।

(११५)-अपने रूपको देखना संसारके बनानेका असली कारण है और वह उसके निरपेक्षत्वमें विकार नहीं आने देता किन्तु उसके स्वभावके अनुसार औपाधिक गुणोंका प्रकाशकत्व उसमें रहता है, इस से संसारकी बनावटमें उसकी विचित्र कारीगरी और माया सिद्ध होती है,अत एव अपने सब गुणोंको प्रकट करना भी संसारका कारण है, जिस प्रकार कि-जो सुन्दर होता है वह छिपा नहीं रहता, परदों

और झरोखोंसे देखता हुआ अपनी सुन्दरता दिखाता है, इसी प्रकार सुन्दर आत्मा भी कि—जिसकी सुन्दरताका प्रकाश प्रत्येक स्थान पर फैल रहा है वह संसारके परदेमें झाँकी और दर्शन देरहा है। उसका दर्शन देना, संसार बनानेका कारण है, जो एक प्रकारका उस पर कारणका परदा भी है। क्योंकि—ज्यों परदेमें झाँकी होती है, त्यों २ प्रेमियोंका प्रेम भड़कता है। इस प्रकार वह स्वयं ही अभिलाषी, स्वयं ही अभिलषित और स्वयं ही पर्दा वन कर अनकरूप हुआ संसारके रूपमें प्रकट हुआ है।

(११६)—संसारको देखनेसे लोक परलोक नरक स्वर्ग बन्धन और मोक्ष आदि संसारकी सब वस्तुओंमें विचित्रता और चतुरता दिखाई देती है, कोई भी वस्तु व्यर्थ और निष्कारण नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु उसके गुण और चतुरताका दर्पण है, तब यह कैसे हो सकता है, कि—सूर्यकी छायाकी समान संसार उससे स्वाभाविकरीति से उत्पन्न होता रहे ? उसने हाथकी पाँच अँगुलियोंको कैसे अच्छे ढङ्गसे बनाया है, कि—मध्यमा अँगुली बड़ी है, कनिष्ठिका सबसे छोटी है और उनको इस प्रकार बनाया है, कि—चाहें मुट्ठी बाँधें और चाहें फैला दें, किसी वस्तुको पकड़ना चाहें तो पकड़ लें और किसी गाँठ को खोलना चाहें तो हाथसे खोल सकते हैं। शत्रुके मुक्का मारना चाहें तो मुक्का मार सकते हैं, उस समय वह गदाका काम देता है और लड़कोंको दण्ड देते समय थप्पड़का काम देता है, इस प्रकारके और भी बहुतसे काम उससे निकलते हैं, जिनका विचार करके संसारके बुद्धिमानोंको दङ्ग होजाना पड़ता है।

(११७)—यदि संसार भरके बुद्धिमान् पुरुष मिल कर विचार करें कि—इस ढङ्गके अतिरिक्त हाथका कोई और ढङ्ग बनाया जाय और उससे सब काम कर सकें, तो वह ऐसा कोई ढङ्ग नहीं बना सकते। इसी प्रकार नेत्रके परदे और उनकी बनावट पर ध्यान दें तथा नेत्रके मस्तक पर लगानेकी बात सोचें तो बनाने वालेकी अद्भुत चतुरता दिखाई देती है। इसी प्रकार क्या मनुष्य क्या पशु और क्या प्रत्येक अङ्ग सबको देखकर बुद्धिमानोंकी बुद्धि दङ्ग रह जाती है, अतः यह सब बनावट विना चतुरताके नहीं बनसकती।

(११८)—उसकी बनावटके ढङ्गसे उसकी उत्कृष्ट बुद्धिमत्ता और

इञ्जीनियरोंका पता चलता है,तव भी वह सामान और औजारोंके विना बनाता है,इस कारण वह माया है तथा इसी कारणसे उसको (ख्याली) संकल्पमय कहते हैं। फिर कहीं तो डबल संकल्पसे और कहीं इकहरे संकल्पसे दुहरे संसारको बनाता है, वह डबल संकल्पसे बनाता है उसको यथार्थ संकल्प कहते हैं और जो इकहरा विचार करता है उस को स्वप्न वा ख्याल जानते हैं। इस प्रकार वह अद्भुत माया विचित्र शक्ति रखता है, इससे अधिक न और कोई शक्ति है, न कोई और माया है।

(११९)–जो पुरुष श्रुतियोंके सिद्धान्तके विरुद्ध प्रकृति अथवा परमाणुका निर्णय करता है अथवा असत्से सत्को मानता है, उसका विचार ठीक नहीं है। और जो यह कहता है, कि–ईश्वर परमाणुसे संसारको बनाता है, उसके सिद्धान्तको भी सत्य न समझो। और जो कहता है, कि–ईश्वर नहीं बनाता और उसके भोगके लिए प्रकृति आप ही संसार बनाती है, उसके सिद्धान्तसे भी दूर रहो। और जो कहता है, कि–वह असत्से सत् करता है। उसको भी दूर रहने दो।

(१२०)–वह तो जादूगरकी समान जादूसे संसारको बनाता है। जिस प्रकार जादूगर अनहुई वस्तु दिखाता है, इसी प्रकार अनहुई दुनियाँको दिखाता है। हे परमशक्तिमान् मायाविन्! आप कृपा करके हमारे शिष्योंको इस मायासे बचा दीजिए! जादूसे भी अधिक प्रभाव-शाली अपनी मायाका हमारे शिष्यों पर परदा मत डाल जो तेरी इच्छा है वह उनको अपना आत्मदर्शी दर्पण बनाले वह अपने मनके शीशेमें तुझको देख २ कर आनन्दित रहें हे कृपालो! हे दयालो! उन्हें विषयों की चाटसे रोक दीजिये आपके विषयोंकी चाट एक लहसदार शीरा है और हमारे भाषा जाननेवाले पुरुष संस्कृत विद्याकी कम जानकारी होनेके कारण मक्खीकी समान हैं। जिस प्रकार शीरा मीठा होता है उसीप्रकार विषय भी मीठे होते है, जिस प्रकार मक्खी मीठेके लालच से उसमें पड़ कर फँस जाती है, तिस प्रकार यह न पड़ें और न फँसें।

(१२१)–मक्खी नहीं जानती, कि–मैं इस लहसदार शीरेसे नहीं निकल सकूँगी और अपनी बुद्धिकी अल्पताके कारण मिठाईके लोभ से उसमें जापड़ती है और ज्यों २ पर मारती है तथा फड़फड़ाती है त्यों त्यों अधिक फँसती चलीजाती है और अन्तमें उसीमें डूबकर मर जाती

है। इसी प्रकार बेचारा भाषामात्र जानने वाला भी विद्याकी अल्पताके कारण विषयोंमें इसप्रकार आपड़ता है जिस प्रकार एक बलवान् साँड हरे खेतमें जापड़ता है, परन्तु उसमें इस प्रकार फँस जाता है जिस प्रकार एक कमजोर मक्खी शीरेमें फँसती तथा मर जाती है, परन्तु मैं तो अनुवादरूपी एक पंखा हिला रहा हूँ, इस पंखेकी हवामें आने वाले बचसकते हैं परन्तु जो इस पंखेकी हवा भी नहीं खाते और इधरउधर निकल कर फँस जाते हैं उनको बचानेका मैं भी कोई उपाय नहीं करता, आपकी कृपा चाहिये उनको मेरे पंखेकी वायुके नीचे लाइये जिससे मैं उनको विषयरूपी शीरेसे बचा कर आत्मारूपी बगीचा दिखलाऊं और जङ्गली चिड़ियासे सुवर्णकी चिड़िया बना दूँ।

(१२२)—और इस बागमें उनको शहदकी मक्खीकी समान रस उठाना सिखाऊँ और ब्रह्मलोकके सूर्ययूपमें उस रससे अमृत बनाना बतलाऊँ जिससे कि-वह इसी यूपमें मिलते हुए सदा अमृतका पानकरें और मृत्युके बन्धनसे छूट जायँ यह कैसी अच्छी बात हो, कि-यदि मेरे हाथसे यह बेचारी तुच्छ मक्खियें भी सूर्ययूपकी दिव्य मक्खियाँ होजायँ, तेरी कृपासे वह कुछ भी कठिन नहीं है तू कृपालु और दयालु है जो चाहे सो कर सकता है।

(१२३)—हे भाइयो! अब मैं तुमको वैदिक गाथा सुनाता हूँ जिससे तुमको सरलतासे प्रतीत होजायगा, कि-आत्मा किस प्रकार अपनी चतुराईसे संसारको रचता है और किस प्रकार मनुष्य शरीरमें प्रवेश करता है और वह किस प्रकार मनुष्य बना और ऐसा क्यों हुआ है तथा मनुष्य योनिमें उसका प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है और इसमें प्रविष्ट होकर देवता किस प्रकार अपने२ भोगोंको भोगते हैं और यह ही क्यों सबका स्वामी और उत्पत्तिस्थान है और उसके विचारसे जाग्रत् तथा स्वप्नमें संसार किस प्रकार बनता है?

(१२४)—यद्यपि इन विषयोंको जाननेके लिये संस्कृत विद्याको जाननेकी आवश्यकता है, तथापि भाषा जानने वालोंके लिये मैं वैदिक गाथाओंको रोचक रूपमें समझानेका प्रयास करता हूँ, इस लिये ऋग्वेदके ऐतरेयशाखामें जो कुछ लिखा है उसका सरल अनुवाद प्रकाशित करता हूँ।

❀ अष्टम-परिच्छेद ❀

(१)-हम सुनते हैं, कि-जब प्रजापति इन्द्रको और कश्यपको उपदेश दे चुके और इन्द्रने इस शिक्षाका देवताओंमें प्रचार किया उस समय कश्यपने सनकादिक ऋषियोंको और अपने पुत्र मनुको भी यही उपदेश दिया तब सनकादिक ऋषि इस शिक्षाका प्रचार करते हुए संसारको कर्म और ज्ञानकी ओर बुलाते थे।

(२)-परन्तु कर्मके रहस्य तो उनको ज्ञात होगए परन्तु ज्ञानका रहस्य उनकी समझमें नहीं आया इस लिये वह कर्म काण्डमें तो लग गए परन्तु जिसको जाननेसे विना प्रयासके ही मुक्ति मिल जाती है उस आत्माको न पहचान सके परन्तु उस समय भी आत्माको जानने की अभिलाषा रखनेवाले पवित्र और स्वच्छ मन वाले पुरुष आत्माको जाननेके लिये सनक आदि ऋषियोंके पास आते थे और आत्माकी शिक्षा पाते थे।

(३)-उनमें एक वामदेव नामक ब्राह्मण भी था उसका मन स्वच्छ था परन्तु उसके पिछले जन्मका एक पाप ऐसा था जो उसे अवभी दूसराजन्म लेनेपर बाध्य कर रहा था और इसी परदेके कारण उसको प्रत्यक्ष रीति पर आत्मा नहीं दिखाई देता था तब भी ऋषियोंका वचन उसमें इस प्रकार बीजकी समान प्रभाव डालता था जिस प्रकार कोई बीज पृथिवीमें बोया जाय तो भी जब तक समय नहीं आता है तब तक वह अंकुरित नहीं होता है और समय आने पर स्वयं ही अंकुरित होजाता है।

(४)-भविष्यमें होनेवाले दूसरे जन्मके परदेके कारण वह उसमें अंकुरित नहीं होता था; तब भी वह यज्ञ तप और व्रतसे नराई करता था और सनकादिक मुनियोंकी शिक्षाकी वर्षासे उसको सींचता था अन्तको वह युवावस्थामें मरगया और पितृयान मार्ग पर चलता हुआ चन्द्रलोकमें सोमराज होगया और वहाँ स्वर्गके भोग भोगकर फिर नीचेको उतरा और उसी नियमसे उतरा जिस प्रकार हमने कर्मकाण्ड विद्यामें बताया है कि-वर्षासे पृथिवीरूपी अग्निमें होमा हुआ अन्न हुआ और फिर ब्राह्मणाग्निमें होमा हुआ वीर्य होगया और ब्राह्मणी अग्नि में जो होमकी पाँचवीअग्नि है उसमें होमाजाकर गर्भमें आया यह उसका दूसरा जन्म हुआ।

(५)-जब वह ईश्वरीय माया के नियमसे गर्भमें आया तब उसके अपने सब कर्मभी उसके सामने प्रकट होगए और सनक आदि ऋषियों से आत्माकी शिक्षा पाई थी, उसका भी उसको स्मरण होगया और उसने अपने आत्माको पहिचान लिया। पूर्वजन्ममें भविष्यजन्मके कारण अज्ञानका परदा नहीं उठा था, अब जन्म होनेपर अज्ञानका आवरण दूर होगया और आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा और वह ज्ञानावस्थामें स्थित होगया।

(६)-साथमें यह एक और आश्चर्य हुआ, कि-उसको पहिली उपासनाके कारण गर्भमें ही बोलनेकी शक्ति प्राप्त होगई और वह गर्भमें ही बोलने लगा। उस समय उसकी माता और उसके पासमें रहनेवाले प्राणी उसकी बातोंको सुनकर आश्चर्य करने लगे, कि-यह अद्भुत लड़का गर्भमें आया है, जो ईश्वरीय नियमके विरुद्ध गर्भमें ही बोल रहा है।

(७)-उस समय बहुतसे पुरुष यह कहने लगे, कि-"यह बालक नहीं है, किन्तु कोई भूत पेटके भीतर घुस बैठा है" और कुछ पुरुष कहने लगे, कि-यह भूत नहीं है, ईश्वरीय अवतार है, क्योंकि-यह वैदिक मन्त्र पढता है, और भूत वैदिक मन्त्र नहीं पढ सकता" इस आश्चर्यमयी घटनाकी खबर धीरे २ ग्राम और प्रत्येक नगरमें फैल गई और दूर २ के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य उसको देखनेके लिए आने लगे और उसकी माताके पास बैठ गर्भस्थित बालकसे बातचीत करके ईश्वरीय मायासे आश्चर्यचकित होजाते थे।

(८)-धीरे २ वह लोग भी तहाँ आगए, कि-जिनके साथमें यह पूर्वजन्ममें जप तप करता था और सनक आदि मुनियोंसे उपदेश पाता था। जब वे इसके पासमें पहुँचे, तो यह गर्भमें जोरसे हँसा। उन्होंने कहा, कि-अरे बालक! तू अभी गर्भसे बाहर नहीं निकला है, तुझे बोलना किसने सिखा दिया? तू कौन है? और क्यों हँसता है?

(९) वामदेव बोला, कि-हे भाइयों! मैं तुमको जानता पहिचानता हूँ और तुम मुझको नहीं जानते, इस कारण मैं अपनी मायाके आश्चर्यसे हँसता हूँ। अब मैं तुमको बतलाता हूँ, कि-मैं कौन हूँ? मैं वही तुम्हारा वामदेव नामक भाई हूँ, मैं तुम्हारे यहाँ उत्पन्न होकर बहुत समय तक तुम्हारे साथ रहा था और तुम्हारे साथ रह कर तप और व्रत आदि किया करता था, फिर तुम्हारे साथ रह कर सनक आदि

ऋषियोंसे आत्माका उपदेश सुना करता था फिर वामदेवने उनको बहुतसी गुप्त बातें उनसे कहीं, तब उनको विश्वास होगया, कि—वास्तवमें यह वही वामदेव है।

(१०)–फिर उसने कहा, कि–हे भाइयो! तुम जानते हो, कि–मैं और तुम सनक आदि मुनियोंसे आत्मज्ञान सीखा करते थे, परन्तु मुझे भावीजन्मका रोग था, इस लिये सनक आदि ऋषियोंकी शिक्षा का मेरे ऊपर पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता था, और अज्ञानावरण भावीजन्म के कारण नष्ट नहीं होता था, अत एव उस समय मुझको आत्माका प्रत्यक्ष नहीं हुआ जिस प्रकार बीज बोकर उस पर पत्थर धर दिया जाय, तो वह बीज अंकुरित नहीं होसकता, इसी प्रकार भावी जन्मके कड़े पत्थरके कारण मेरे मनमें बोया हुआ सनक आदि मुनियोंका उपदेश अंकुरित नहीं हुआ।

(११)–जब मैं तुममें सोगया (अर्थात् मर गया) और दूसरे जन्ममें उठा तो भविष्यजन्मरूप पत्थर हट गया और सनक आदि ऋषियोंकी शिक्षाका बीज अंकुरित होगया। अब मैं अपने आत्माको उनके उपदेशानुसार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, और मुझे निश्चय है, कि–"मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही मनु हूँ और सबमें सब कुछ मैं ही हूँ"।

(१२)–हे भाइयो! मुझे गर्भमें ही दीख रहा है, कि–मैं अनादिकालसे देवता पशु पक्षी आदि अगणित योनियोंमें वारम्वार आकर कभी देवता कभी गन्धर्व कभी सूर्य कभी प्रजापति कभी मनुष्य और कभी घोड़ा आदि बन गया था, उनकी गिनती मैं तुमको नहीं बतला सकता, किन्तु मैं देख रहा हूँ।

(१३)–हे भाइयो! मैं अनादिकालसे इस संसारमें योनियोंको बदलता आरहा हूँ। यह संसार लोहेके पींजरेकी समान है और मैं बलवान् बाजकी समान इस संसाररूपी पींजरेमें कैद था, यह संसार-रूपी पींजरा फौलादसे भी कड़ा है, तब भी मुझ बलवान् बाजकी भुजाओंके सामने उसकी कुछ भी बिसात नहीं थी।

(१४)–परन्तु अविद्याके कारण उस पींजरेसे मोह होनेसे वह पींजरा कड़ा होरहा था और मुझसे नहीं टूटता था। अब मैं सनक आदि मुनियोंको धन्यवाद देता हूँ, कि–उन्होंने मुझे आत्मबलकी शिक्षा दी और मुझे बतला दिया, कि–तुम तो एक महाबलवान् बाज हो! इस

संसारके बन्धनमें तुम क्यों पड़े हुए हो क्या सिंह भी कच्चे धागोंसे बँधा रहता है, क्या बलवान् बाज भी कच्चे धागोंकी कैदमें पड़ा रहता है, परन्तु मैं भविष्यजन्मरूप विघ्नके कारण विश्वास नहीं करता था, परन्तु समझता अवश्य था।

(१५)-अब जो रुकावटकापत्थर अपने आप दूर होगया, तब उन की शिक्षाका बीज अब गर्भमें ही अङ्कुरित होगया है, मैंने बलवान् बाजकी समान आत्मबलसे इस पिंजरेको तोड़ दिया और इस प्रत्यक्ष आत्माको पालिया, अब मैं सबमें सबकुछ, सबसे अलग और बिलकुल स्वतंत्र हूँ।

(१६)-वामदेवने गर्भमेंसे ही कहा, कि-आश्चर्य न करो, यह अपने आत्माको पहिचाननेकी महिमा है, कि-मैं अपनआपको सर्वरूप देखता हूँ और यही ज्ञान मुक्ति दिला देता है। मैं यज्ञ तपआदि किया करता था, उसका यह फल है, कि-मैं गर्भमें बोलता हूँ, मेरी मायाका यही नियम है।

(१७)-हे सज्जनो! सनक आदि ऋषियोंने तुमको जो उपदेश दिया था, वह सत्य है। उसका विचार करो और विचार करके विश्वास करो। तुम भी ज्ञान (मुक्ति) को पाओगे। तुम्हारे मनमें कुसंस्कार और अज्ञान भर रहे हैं, इसी लिए तुमको ज्ञान नहीं होसका। क्या तुम मेरा उदाहरण नहीं देखते कि-इस ज्ञानके कारण मुझे कैसी अद्भुत शक्ति प्राप्त होगई है,क्या कोई गर्भावस्थामें भी बातचीत कर सकता है?

(१८)-देखो मैं तुम्हारे सामने अभी गर्भमेंसे निकला भी नहीं हूँ, तब भी बोलता हूँ और यह अनुभव करता हूँ कि-मैं सबमें सबकुछ हूँ। जब मैं तुम्हारे साथ था, उस समय क्या मैं भी तुम्हारी समान नहीं डरता था, कि-यह ईश्वरीय नियम है, कि-हम दुःखी पराधीन मनुष्य हैं? किन्तु अब जब मैंने अपने आत्माको पहिचान लिया तथा शरीरों को और योनियोंको वस्त्रकी समान बदलते हुए देखा तो मैं पहिचानता हूँ, कि-मैं ही अविनाशी भूत भविष्यत् वर्तमानमें रहने वाला प्रकट तथा गुप्त हूँ! हे मृत्यो! अब तेरा डङ्क कहाँ? और हे चिन्ते! अब तेरा जलन कहाँ?

(१९)-हे बान्धवो! संसार मुझको ऐसा दिखाईदेता है जैसे एक भातका ग्रास होता है और मलकुल मौत जिसका तुम यमराज कहते

हो चटनीकी समान दीखती है और मै उसको इस प्रकार खा जाता हूँ, जिस प्रकार कोई बलवान् पुरुप उसको ग्रासके साथ खाजाय और उसको स्वादिष्ट बतावे। "हम दुःखी पराधीन मनुष्य हैं" यह ईश्वरीय नियम नहीं है। मैं अपने आत्माकी वड़ाई करता हूँ, यह गर्व नहीं है, किन्तु मेरा महत्त्व है।

(२०.)–मैं भी जब तुम्हारे साथ था, तब अपने तुच्छशरीराभिमान से तुम्हारी समान ही डरा करता था और इस पहिचान (ज्ञान) को झूठा समझा करता था। परन्तु तुम्हारी अपेक्षा मुझमें यह भेद था, कि-मैं सनक आदि मुनियोंके वचनको मानताथा परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास नहीं होता था। इस कारण अब मुझको परममुक्ति मिल गई।

(२१.)–मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इस ज्ञानको झूठा बता कर जो तुमको डराते हैं, वे विरोचनके शिष्य हैं और वे ही भ्रममें फँसे हुए हैं और यही वास्तविक आत्मज्ञान है। विरोचन स्वयं ही नहीं समझा था, तो वह दूसरोंको क्या समझा सकता है, यह तो ऐसीबात है?कि-अंधा अंधेको मार्ग दिखाने लगता है, तो अन्तमें दोनों ही गढ़ेमें गिर पड़ते है। शरीर तो स्वय ही अन्धकार है, जो इस शरीरमें अभिमान रखता है, वह अन्धकारमें चलता है, परन्तु आत्मा प्रकाश है :वह इस अन्धकारमें चमकता रहता है, जो इस प्रकाशका अभिमान रखते हैं, वेह प्रकाशमें चलते हैं। और यह प्रकट है, कि–अन्धकार(अज्ञान) का नाम ही झूठ है, इस लिये मैं शरीर हूँ मै सुखी हूँ,और मैं दुःखी हूँ यह झूठ है और मैं प्रकाश हूँ, यही सत्य है और ठीक है।

(२२)–हे भाइयों ! सत्य जानो ! जो अन्धेरेमें चलता है, वह ठोकर खाता है; जो प्रकाश चाँदनेमें चलता है वह कभी ठोकर नहीं खाता, क्योंकि-दिनमें चलने वालेको कभी ठोकर खाते नहीं देखा। इस ज्ञानको तो मैं अब सूर्यके प्रकाशकी समान देखता हूँ, वह अन्धा है जो इस सूर्यके प्रकाशको रात वतलाता है, उसकी बातको कभी न सुनना चाहिये।

(२३)–जा आत्माको नहीं जानते, वेस्वयंही अन्धकारकीसमान है। अन्धकार प्रकाशके पास नहीं आया करता क्योंकि–उसमें उसकी जो बुराई छिपी हुई होती है वह प्रकाशमें खुल जाती हैं। इस लिये जो ज्ञानसे बचते हैं, वे कुसंस्कारी हैं और उनके कुसंस्कार इस अज्ञान

में दबे रहते हैं वे प्रकट न होजावें इस लिये वे इस ज्ञानको मिथ्या समझते हैं और डरते हैं।

(२४)–हे सज्जनो ! इस ज्ञानसे परममुक्ति प्राप्त होजाती है और और इसी ज्ञानसे परमशान्ति मिलती है। इस ज्ञानको प्राप्त करो, इस ज्ञानको पाने पर मनुष्य ब्रह्म होजाता है और इसीको पाकर जङ्गलकी चिड़िया सुवर्णकी चिड़िया बन जाती है। मैं तो इस ज्ञानसे कृतकृत्य होगया हूँ।

(२५)–जब वामदेवने उनसे इस प्रकार कहा, तब वे बड़े भारी आश्चर्यमें पड़ गए और कहने लगे, कि–तुम हमें कब तक उधेड़ बुनमें रक्खोगे ? सच कहो तुम कौन हो ? वामदेव तो हमारी बिरादरीका एक दुःखी मनुष्य था और हमारे सामने अज्ञानमें ही मरगया था, अगर तुम भूत हो तब भी बतलादो और किसी देवताका अवतार हो तब भी बतलादो आश्चर्यित न करो।

(२६)–तब वह बोला मैंने तो कहा किन्तु तुम नहीं मानते मैं सत्य कहता हूँ परन्तु तुम नहीं समझते जो कोई मेरी बातको सुनता है मैं उसे अविनाशी करदेता हूँ, परन्तु तुम सुनते हुए भी नहीं सुनते तुम्हारे सिरके कान तो खुले हुए हैं परन्तु मनके कान बन्द हैं। तुमने सनकादिक मुनियोंसे उपदेश पाया परन्तु उस पर विश्वास नहीं किया हे अज्ञानियो ! यदि तुम मेरे वचनको नहीं मानते तो मेरे कामोंको तो मानो देखो मैं अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ हूँ और गर्भमेंही बोल रहा हूँ। क्या कहीं ऐसा हुआ है ?

(२७)–अरे अविश्वासियो ! मैं अविद्याके कारण तुम्हारे बीचमें वामदेवकी आकृतिमें अशक्तसा रहा था और मर गया था परन्तु इन बातोंसे क्या ? अब तो तुम देखते हो, कि–मुझे परमज्ञान मिलगया है। जब मैं तुममें अशक्त होकर रहता हुआ मरगया और तुम्हें कुछ ज्ञान न देसका था, उस समय तो तुम मेरे लिये दुःखित होकर बर्षों तक रोते रहे थे और अब जब मैं ज्ञान और तेजोप्रतापसे युक्त होकर आया हूँ तब तुम मेरी प्रशंसा नहीं करते और मुझे भूत बतलाते हो !

(२८) मैं सत्य कहता हूँ, कि—तुम्हारे चित्तोंमें कुसंस्कार भरे हुए हैं, तुम ब्रह्माजीके पुत्र सनक आदि ऋषियोंको (उनके उपदेशको न मानकर) उनको झूठा बतला चुके और ज्ञान तथा निश्चिन्ततासे

संयुक्त होकर उपस्थित हुए मुझको भी झूठा बतलाते हो ! खबरदार होजाओ अपने आपेको संभालो न मैं भूत हूँ न मैं चुड़ैल हूँ मैं तो वही वामदेव हूँ जो मैं तुममें था, परन्तु अब मैं ज्ञान पाकर अनुभव करता हूँ, कि-मैं ही भूत हूँ मैं ही चुड़ैल हूँ मैं ही अवतार हूँ मैं ही इन्द्र हूँ मैं ही प्रजापति हूँ मुझसे कुछ भी बाहर नहीं है और मैं सबमें सब कुछ हूँ।

(२९)-तो उन्हें विश्वास हुआ, कि—यह भूत नहीं है और वही वामदेव है जो हमारा साथी था क्योंकि—यह जो बाते बतलाता है वह सब ठीक हैं आश्चर्य नहीं कि—इसने सनक आदि ऋषियोंके उपदेशके प्रभावसे परमज्ञान पाया हो तब उन्होंने उसकी बातको सत्य जानकर उस पर विश्वास किया और उससे क्षमा माँगी, कि—हे वामदेव ! हमें क्षमा करो हमने पहचान लिया कि-तुम वही वामदेव हो जो हमारे भाई थे और तुम परम ज्ञान पाकर यहाँ पर आये हो।

(३०)-परन्तु हम घोर अविद्याके कारण अपनी आत्माको नहीं जानते, सनक आदि ऋषियोंने हमें बहुत कुछ उपदेश दिया परन्तु उपदेशसे दूर होने वाला आवरण हमारे कुसंस्कारवश दूर नहीं हुआ इसकारण हम ज्ञान न पासके। परन्तु तुम श्रद्धा रखकर उनके वचनोंको मानते थे इसकारण तुमने परमज्ञान पाया, उसका अब हम अपनी आँखोंके सामने देखरहे हैं अब तुम हमको भी ज्ञानोपदेश दो और जिस रहस्यका तुम अनुभव कर रहे हो उसका हमको अनुभव कराओ तब हम भी तुम्हारे कारणसे मुक्त होजावेंगे।

(३१)-तब वामदेव बोला, कि-हे सज्जनो ! यह आत्मा एक है सुन्दरतामें अद्वितीय है और अपने कामोंमें स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् है, उसके अतिरिक्त और कोई नहीं है जो उसको देख सके। जिस प्रकार सुन्दर स्त्रीको चाव होता है, कि-मुझको कोई देखे, किन्तु जब वह परदेमें रखी जाती है तो इसीचावके कारण वह आरसी पहिनलेती है और आप ही अपने आपको उसमें देख कर प्रसन्न होती है।

(३२)-परदेमें स्त्रीका मुख भी अकेलाहोता है और उसको देखने वाला कोई दूसरा नहीं होता और मुख भी एक होता है तब वह अपने को किसप्रकार देखे यद्यपि आरसीके द्वारा एक मुखके दो मुख नहीं होजाते हैं तथापि मुख दूसरा होता हुआ दूसरासा होजाता है और

जहाँ यह एक दूसरासा होता है तहाँ एक दूसरेको देखता है इसी प्रकार सुन्दर स्त्री भी आरसीमें दूसरीसी होकर अपने आपको देखती है।

(३३)–यह आत्मदेव तो उससे भी श्रेष्ठ अद्वितीय और सुन्दर है क्योंकि—न तो कोई गुण रखता है और न कोई अंश रखता है सब गुणोंसे और सब अंशोंसे रहित है—शुद्ध है और सुन्दरता रूप है क्योंकि—सुन्दरता और शोभा इसीकी छाया है और इसीकी चमक है इसलिये कैसे अपने आपको देखे किन्तु सुन्दरतारूप है इस लिये देखनेका चाव सर्वदा रहता है इस प्रकार उसे भी दर्पणकी आवश्यकता है जिससे वह उसमें दूसरासा होकर और एकसे दो सा होता हुआ स्नेहको पूर्ण करे और अपना दर्शन पावे।

(३४) परन्तु जिस प्रकार दृष्टान्तमें तो मुख एक होता है और आरसीके द्वारा दोसा होता है परन्तु आरसी तो दूसरी वस्तु उसके समान ही तहाँ पर उपस्थित होती है, परन्तु यहाँ तो आत्माके अतिरिक्त दूसरी वस्तु भी नहीं है जो आरसीका स्थान ग्रहण करसके अतः यहाँ आप ही दर्पण आप ही देखने वाला और आप ही दिखाई देने वाला होता है।

(३५)–इस बातसे आश्चर्य न करना चाहिये क्योंकि—जादूगर दो यातीन नहीं होजाता है तब भी जादूकेकारण दो अथवा तीन होकर दिखाई देता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी जादूगर है–मायावी है और अपने जादूसे आप ही दर्पण आप ही देखने वाला और आप ही तमाशा होता है और इस जादूको संस्कृतमें माया कहते हैं।

(३६)–यह बात सबको विदित है, कि—जादूगरका जादू उसके वशमें होता है उसकी कुछ हानि नहीं करसकता और उसे कुछ भयभीत भी नहीं करसकता तब भी दूसरोंकी डर हानि और प्रसन्नताका कारण होजाता है, देखो ! जादूगर जब जादूसे शेर होकर दिखाई देता है तो लडकोंको डराता है किन्तु यह जादू उस जादूगरको नहीं डराता। इसी प्रकार आत्माकी माया भी आत्मा पर कुछ असर नहीं करती और उसके वशमें रहती है तो भी उसीको जब वह दूसरासा होजाता है तो डराती है और बन्धमोक्षका व्यवहार करती है इसप्रकार यह अपने दर्शनके लिये दर्पणमें उतर कर विचित्र संसारमें अवतीर्ण हुआ है।

(३७)—परन्तु इस दर्पणमें आया हुआ यह जब संसारके विषयों से उपराम पाकर वेदके नियत नियमसे उस दर्पणको स्वच्छ करता है और उस नियमसे जो देखनेके लिये नियत है उसमें देखता है तो अपने आत्माको एक देखता हुआ अद्वितीय होजाता है और जादूका सारा संसार दूर होजाता है और वह मालिकका मालिक जिसको कुछ भी कमी न हो ऐसा होजाता है।

(३८)—तब वह बोले, कि–हे वामदेव ! हमें विस्तारपूर्वक बतलाओ, कि–वह किस प्रकार अपनी मायासे अलग रहता है, उसका दर्पण क्या है और वह उस दर्पणको किसप्रकार तयार करता है किस प्रकार दर्पणमें उतर आता है, और दर्पणमें आकर किस प्रकार संसारी बनजाता है, उसमें कैसे देखता है फिर किस प्रकार इकला होता हुआ इस जादूसे निकलता है और वह इस जादूगरीमें क्या २ करामात दिखलाता है ?

(३९)–तब वामदेवने कहा, कि–हे सज्जनों ! पहले यही अकेला आत्मा था दूसरा कुछ भी कल्पित नहीं था तब उसने चाहा कि–मैं अपना दर्शन करूँ और अपने लिये दर्पण बनाऊँ, फिर जिस प्रकार एक बडा इञ्जीनियर पहले विचार करता है और लकडी पत्ती तथा कील तयार करता है तदनन्तर उनको जोडकर उनके भीतर दर्पण लगाता है इसी प्रकार उसने विचार करके अपने आत्मासे आकाशको बनाया; आकाशसे वायुको बनाया; वायुसे अग्निको बनाया अग्निसे जलको बनाया फिर जलसे सबचीजोंकी उत्पादिका और सब चीजों की धारण करने वाली पृथिवीको बनाया।

(४०)–इस बातका आश्चर्य न करो, कि–आत्माके अतिरिक्त उस के पास कुछ नहीं था तब भी उसने इन वस्तुओंको किस प्रकार बना लिया क्यों कि–जिस प्रकार जलको हिलोनेसे झाग प्रकट होते हैं इसी प्रकार उसके संकल्पसे तीन गुणवाली माया झागोंकी समान प्रकट हो गई वह उसीकी गुण है उसीकी छाया है उससे भिन्न नहीं है और वही संकल्परूप थी इसकारण वह आप ही उपादान आपही कर्ता होजाता है इसी प्रकार सर्प भी अपने लम्बा होने गोल होने और टेढा होनेमें आप ही उपादान और आप ही कर्ता होता है।

(४१)—फिर उसने चाहा, कि–मैं लोक बनाऊँ उनमें संसारियों

के भोगके लिये उनके अनुसार आवादियें हों और मेरे मुख देखनेके दर्पणके लिये शृङ्गारके कमरे बनजावें, इन लोकोंको संस्कृतमें ऊपर और नीचेके लोक कहते हैं उसने उन पञ्चतत्त्वोंसे प्रथम अण्ड उत्पन्न करके संक्षेपसे इन चार लोकोंका भी बनाया वे अम्भ मरीचि मर और जल कहलाते हैं (अम्भोमरीचिर्मरमापः)।

(४२)—देवलोकसे ऊपरका भुवन अम्भः कहलाताहै यद्यपिउस में भी बहुतसे लोक हैं तब भी वे सब मिलकर अम्भः कहलाते हैं और संस्कृतमें अम्भस्त्व (माद्देनेरतूवतअज़ीज़ी) चिकनाईकी खानको कहते हैं वह वास्तवमें जल है वह सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंके मेलसे बनाया गया है, उसमें जल अधिक है इस लिये उसका अम्भ नाम रखा गया है।

(४३)—देखो ! एशियामें हिन्दुस्तान और चीन आदि बहुतसे देश हैं परन्तु जिस प्रकार उन सबको मिलाकर एशिया कहते हैं इसी प्रकार देवलोकसे ऊपर जितने भुवन बनाए गए हैं उन सबोंको अम्भः कहते हैं।

(४४)—दूसरा भुवन मरीचि है और वह उतना ही है जिसमें ऊपरसे नीचे तक सूर्यकी किरणें फैलकर व्याप्त होजाती हैं अन्तरिक्ष को मरीचि कहते हैं क्यों कि-वह सूर्यकी किरणोंवाला है इस कारण मरीचि है।

(४५)-तीसरा भुवन मर है और उसको मृत्युलोक भी कहते हैं क्यों कि-मर और मृत्यु संस्कृतमें मौतके नाम हैं जहाँ तक मृत्यु या मृत्युका ज्ञान होता है वही मर अथवा मृत्युलोक कहलाता है और पृथिवी उसका चिह्न है इसीमें बहुधा जन्म मरणका वर्ताव होता है दूसरे भुवनोंमेंसेभी जीवोंके शरीर नष्ट होतेहैं और मृत्युलोकमें उतरते हैं परन्तु तहाँ उनके शरीर पार्थिव नहीं होते जलके बनेहुए और सूक्ष्म होते हैं और कर्मोंका अन्त होने पर कष्ट और दुःखकी गर्मीसे घृतकी समान पिघल जाते हैं उनमें नाशकी पहचान तो होती है परन्तु मृत्यु की पहिचान नहीं होती।

(४६)—यहाँ मृत्युलोकमें तो शरीर पड़ा रहता है प्राण उठजाते हैं और लाश रहजाती है?यहाँ मृत्युका वर्ताव होता है इस कारण इस को मृत्युलोक कहते हैं।

(४७)—चौथा भुवन अप है उसको जल लोकभी कहते हैं, उस

में जल सबसे अधिक है इस लिये उसका अप कहने हैं संस्कृतमें अप नाम जलका है इस बातको संस्कृत जानने वाले जानते हैं। यह सबसे नीचेका भुवन है इस कारणसे इसको पाताललोक भी कहते हैं।

(४८)—इन चार भुवनोंमेंसे प्रत्येक भुवनमें बहुतसे भुवन मिले हुए हैं उसका उदाहरण हम अम्भः भुवनमें देचुके हैं इसी प्रकार सब भुवनोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। प्रत्येक भुवन पाँच तत्त्वोंको मिलाकर बनाया गया है परन्तु सबमें जलकी ही प्रधानता है किसीमें अधिक और किसीमें कम है इस कारण उन सबको शास्त्रमें जल ही बोलते हैं और यहाँ अम्भ मरीचि मर और अप नाम किसी न किसी कारणसे जलके नामके साथ सम्बन्ध रखते हैं और दूसरा कारण ऊपर लिख दिया गया है। आगे इस कथामें जहाँ जलोंका वर्णन होगा तहाँ पञ्चतत्त्वोंका ही ग्रहण करना चाहिये क्यों कि—उनमें जलकी प्रधानता है।

(४९)—फिर जिस प्रकार चतुर मिस्त्री तख्ते तयार करता है और एक दूसरेको ऊपर नीचे ठोक देता है इसी प्रकार परमात्माने भी इन भुवनोंको इसी अण्डके भीतर जो गोल है और परमात्माके श्रृङ्गारका बङ्गला है, एक दूसरेमें ठोककर खड़ा कर दिया। अम्भःकी चूल तो देवलोकमें फँसा दी और उसे ऊपर रक्खा, उसके नीचे मरीचिको फँसाया इस लिये अम्भः और मरीचि मिलकर देवलोक है, इसी कारण देवलोक अम्भःकी प्रतिष्ठा कहलाता है।

(५०)—फिर मरीचिलोकको दूसरी ओरसे पृथिवीमें ठोक दिया इस पृथिवीको मृत्युलोक कहते हैं और उसके नीचे पाताललोकको स्थित कर दिया जो दूसरी ओर उसके उसी धनुषाकारमें है जिसको संस्कृतमें अण्ड कहते हैं। इस प्रकार इन भुवनोंको दायरेके अन्दर ठोक कर स्थित कर दिया गया है। यद्यपि यह चार भुवन हैं तथापि किसी शास्त्रमें इनके बड़े २ भीतरी भुवनोंकी गिनती करके चौदह भुवनोंका वर्णन लिखा है इनमें सात भुवन ऊपरके हैं और सात नीचेके हैं इस प्रकार चौदह भुवन अथवा चौदहलोक कहलाते हैं।

(५१)—यह सब इन चार लोकोंके भीतरी लोक हैं, अतएव चार लोकोंका वर्णन करनेवाली श्रुतिके प्रतिकूल नहीं हैं हमने भाषा मात्र जा[illegible] वालोंके लिये इस [illegible] लिख दिया है, कि—

जिससे दूसरे शास्त्रोंके वचनोंको देखने पर उनको सन्देह न हो।

(५२)—जब आत्मा इस प्रकार सब प्राणियोंको कर्मफल देनेके लिये नगरोंकी समान इन चार लोकोंको बसा चुका तब उसने चतुर इञ्जीनियरकी समान विचार किया, कि—यह तख्ते एक दूसरेमें फँसा दिये गए हैं परन्तु जब तक इसमें मेखें और पेंच नहीं लगेंगे तब तक यह मजबूत नहीं रहेंगे।

(५३)—इसी प्रकार परमात्माने भी विचारा, कि—यह लोक तयार और खड़े तो होगए हैं परन्तु जब तक इनके लोकपाल न बनाए जाँयगे तब तक यह किस प्रकार स्थित रह सकेंगे? इस लिये उसने संकल्प किया, कि—मैं इनके लोकपालोंको भी बनाऊँ यह इनका पालन और इनकी रक्षा करेंगे। जो किसीका पालन करता है और रक्षा करता है वह उसका मालिक (रब) होता है, यह देवता भी इन लोकोंका पालन और रक्षा करते हैं इस कारणसे ज्ञानी उनको उन लोकोंके मालिक (रब्ब) कहते है, और वह इनकी स्थिरताके ज़िम्मेदार हैं अत एव संस्कृतमें उनको लोकपाल अथवा अधिष्ठात्री देवता कहते हैं।

(५४)—फिर जिस जलसे पञ्चतत्त्व बनाए गए हैं और जिससे यह लोक तयार किये गए थे उसने उस थोड़ेसे जलको लेकर उस जल को अच्छी तरहसे विलोया और उससे पहले बड़े मनुष्यको बनाया। संस्कृतमें उनको प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा भी कहते हैं और उसकी शिरसे लेकर पैर तककी आकृति सांसारिक मनुष्यकी समान बनाई।

(५५)—फिर उसने उपरोक्त जलों (पञ्चतत्त्वों) से उस महापुरुष के शरीर पर ध्यान दिया पहले उसके मुखकी ओर दृष्टिकी और चाहा, कि—उसका मुख खुल जावे तब उसकी आज्ञा और संकल्पसे उसका मुख इस प्रकार खुल गया जिस प्रकार किसी जानवरका अण्डा फट जाता है।

(५६)—जब उसका मुख खुला तब उससे वाणी उत्पन्न हुई वाणी से अग्नि उत्पन्न हुई और फिर अग्निसे लोकपालको बनाया, ज्ञानी उस को अग्निका अधिष्ठात्री देवता अथवा उसका पालक (रब) कहते हैं।

(५७)—फिर नासिका खुल गई नासिकासे श्वास श्वाससे वायु और वायुसे वायुका देवता उत्पन्न होगया।
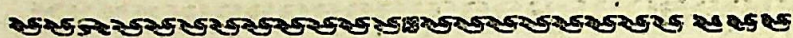
(५८)-फिर नेत्र खुले नेत्रसे दृष्टिशक्ति दृष्टिशक्तिसे सूर्य और सूर्यसे उसका देवता उत्पन्न होगया।

(५९)-फिर कान खुले कानसे सुनना सुननेसे दिशाएँ और दिशाओंसे उनका देवता उत्पन्न होगया।

(६०)-फिर त्वचा खुली उससे रोम रोमसे वृक्ष और वृक्षोंसे उनका देवता उत्पन्न होगया।

(६१)-फिर दिल खुला दिलसे मन मनसे चन्द्रमा और चन्द्रमा से उसका अधिष्ठात्री देवता उत्पन्न होगया।

(६२)-फिर गुदा खुल गई गुदासे अपान अपानसे मृत्यु और मृत्युसे उसका देवता यमराज उत्पन्न होगया।

(६३)-फिर उसकी जननेन्द्रिय खुल गई जननेन्द्रियसे वीर्य और वीर्यसे जल और उसका देवता प्रकट होगया। इस प्रकार प्रत्येक अङ्गसे इन्द्रियें शक्तियें उनके मकान और देवता नियम पूर्वक क्रमशः प्रकट होगए।

(६४)-यहाँ पर दिलसे मांसके उसी टुकड़ेका ग्रहण करना चाहिये जो कमलकी आकृतिमें सीनेके भीतर रखा है और जिसमें मन रहता है और गुदासे उस स्थानका ग्रहण करना चाहिये जहाँ पर सब प्राण कर्मोंके बन्धनमें बांध दिये गए हैं और अपानसे जीवनकी प्रतिकूलताको शरीरसे दूर करती रहने वाली त्यागशक्तिका ग्रहण करना चाहिये उसका देवता यमराज है और उसको मलिकुल मौत कहते हैं।

(६५)-जननेन्द्रिय जनने वाली शक्तिकी खान है उसका वीर्यसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इस कारण श्रुतिमें वीर्य नामसे भी उसका उल्लेख मिलता है।

(६६)-इस प्रकार आत्माने जब सब लोकपालोंको अपने संकल्प से बना दिया और उनको मेखोंकी समान उन लोकोंमें दृढ रखनेके लिये ठोक दिया। इस प्रकार इन देवताओंको एक बड़े विचित्र संसार समुद्रमें डालदिया गया। हे सज्जनो! अब इस विचित्रसंसार समुद्र का वृत्तांत सुनो, कि--इसमें क्या २ कारीगरी हैं संसारको बनानेका वास्तविक कारण वही श्रृङ्गारका बंगला है जिसका कि वर्णन ऊपर आचुका है तब भी जो अस्थायी भाव उसमें बना दिये हैं उनसे भी एक बड़ा समुद्रसा होगया है।
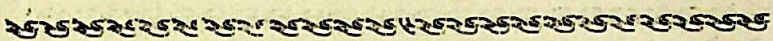
(६७)—इस संसार समुद्रमें अविद्या वासना और कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला शोक और क्लेश जलकी समान है, बड़ी २ बीमारियें बुढ़ापा और मृत्यु मछलियोंकी समान हैं और अनादि तथा अनन्त नामक उसके दो किनारे हैं।

(६८)—विषयोंके भोगसे होनेवाले सुख उसके टापू हैं उनमें प्राणी अपनेको आनन्द पाता हुआसा मानता है पाँचों ज्ञानेन्द्रियें, इन से जानी हुईं वस्तुएँ और उनकी तृष्णारूप वायु चलती रहती है उस वायुसे कुसंस्काररूप बड़ी २ लहरें उठती हैं।

(६९)—रौरव आदि नरक और उसमें प्राणियोंके रोने चिल्लाने का शब्द इस समुद्रकी गर्जनाका शब्द है और सत्कर्म दान दया शम आदि इसमें जहाजियोंके सम्बल हैं आत्माकी पहिचान जहाजका कप्तान है उससे इस समुद्रके परले पार पहुँचा जासकता है और महात्माओंका सत्संग उसमें पार होनेका एक नियत मार्ग है कि- जिस में यह जहाज चलता है।

(७०)—परम मुक्ति और सालोक्य आदि मुक्ति उसके वार पार हैं, ऐसे समुद्रमें यह देवता डाल दिये गये हैं इस कारण कर्मोंसे इन देवताओंकी प्राप्तिरूप मुक्ति कुछ नहीं है-तुच्छ है। और संसार बना रहता है। जब तक यह आत्माका दर्शन नहीं करता तब तक संसार समुद्रके पार नहीं होसकता यही इस श्रुतिका तात्पर्य है।

(७१)—हे भाइयों ! जब कि--यह देवता भी जिनकी कि--तुम उपासना करते हो इसी समुद्रमें गिराए गए हैं तो तुम उनकी उपासनासे इस समुद्रको पार नहीं करसकते; वह तो आप ही इस समुद्र में गिराए गए हैं तब वह तुमको किस प्रकार तार सकते हैं हाँ उन की उपासनासे मनकी शुद्धि और दूसरी सद्गति मिलती है जो वास्तवमें संसार ही हैं।

(७२)—तात्पर्य यह है, कि-परमात्माने इस बड़े मनुष्य (प्रजापति) को जो इन लोकों और देवताओंका आत्मा है उसको-भूँख और प्यास लगादी। जब उसको भूँख प्यास लगी तो देवता जो उसके अंग हैं वह भी इसप्रकार भूँखे प्यासे होगए जिस प्रकार मनुष्य भूँखा प्यासा होता है तो उसके अंग भी भूँखे प्यासे होजाते हैं।

(७३)—जब यह देवता और प्रजापति भूँखे प्यासे होगए और

भूँख प्यासके कारण चिल्लाने लगे तब जिस प्रकार बालक भूख प्यास से बिल्लाकर मातासे खानेको माँगता है इसीप्रकार देवताओंने भी परमात्मासे कहा, कि---हमारे लिये कोई स्थान नियत कीजिये जहाँ बैठ कर हम भोजन पावें और हमारे लिये भोजन भी बनाइये नहीं तो हम इस भूख प्यासके कारण जीवित नहीं रह सकते ।

(७४)-तब परमात्माने पूर्वोक्त पञ्चतत्त्वोंसे एक गौ बनाई और उनके पास लाये और कहा, कि-यह तुम्हारे भोजन करने और भोजन का स्थान होसकती है, परन्तु उन्होंने कहा, कि--हमारे लिये पर्याप्त नहीं है तब वह एक घोड़ेको बना लाए परन्तु देवताओंने कहा, कि-यह भी पूरा नहीं होगा, इसी प्रकार प्रत्येक विचरण करने और उड़ने वाला प्राणी बनाकर उपस्थित किया परन्तु वह उनके लिये पर्याप्त न हुआ अतएव जो सब पृथिवीमें विचरण करनेवाले और आकाशमें उडने वाले प्राणी दिखाई देते हैं देवता उनमें भोग तो पाते हैं परन्तु तृप्त नहीं होते ।

(७५)-फिर परमात्मा उनको ज्योति परमात्माकी आकृतिके एक छोटे मनुष्यको बना लाया, यह देवता अपनी ज्योतिमें उस आकृतिको देख कर प्रसन्न हुए और कहने लगे, कि--हाँ ! यही ठीक है और पर्याप्त (काफी) है । इसी कारण श्रुति भगवती कहती है, कि-मनुष्य ही वास्तवमें सुकृत है, क्योंकि-वही यज्ञ आदि कर्मोंसे देवताओंको तृप्त कर सकता है ।

(७६)-उन देवताओंने इस छोटेसे मनुष्यको पाकर परमात्मा को धन्यवाद दिया क्यों कि-उसमें उनके सब भोग मिलसकते थे फिर परमात्माने कहा, कि-तुम सब इस मनुष्यमें स्थित अपने २ नियत स्थानोंमें प्रवेश करो तब सब देवताओंने उनकी आज्ञा पाकर उस ब्रह्मपुरमें इस प्रकार प्रवेश किया जिस प्रकार बड़े २ अमीर दरबारी दरबारके लिये राजघरमें प्रवेश करते हैं ।

(७७)-अग्निका देवता वाणी बनकर अपनी ज्योति (मुख) में प्रवेश कर गया, पवनका देवता श्वास बन कर अपनी ज्योति (नाक) में आगया, सूर्यका देवता दृष्टि बनकर अपनी ज्योति (आँख) में आगया. दिशाओंका देवता सुनना बनकर अपनी ज्योति (कान)में आगया, और वृक्षोंका देवता रोम बनकर त्वचामें आगया चन्द्रमाका

देवता मन बन कर हृदयमें आगया और मृत्युका देवता जो यमराज है वह अपान होकर टूँडीमें आगया, और जलका देवता वीर्य होकर जननेन्द्रियमें आगया।

(७८)--परन्तु भूँख प्यासका तो कोई अपनी ज्योति (स्थान) नहीं था क्यों कि- वह तो गुणकी समान देवताओंको लग गए थे। उन्होंने कहा, कि-हे ईश्वर हम कहाँ रहें ? हमारे लिये भी कोई स्थान नियत करिये ! तब ईश्वरने उनसे कहा, कि-तुम एक नये उत्पन्न होने वाले गुण हो और गुण गुणीके बिना कहीं नहीं रहसकते, धैर्य धरो मैं तुमको इन आध्यात्मिक और आधिदैविक देवताओंमें हिस्सेदार बनाए देता हूँ।

(७९)--जब परमात्माने उनको ऐसा बनादिया, यही कारण है, कि-जिस देवताके लिये मनुष्य आहुति देता है तो भूँख प्यास भी उसके साथ भाग पाती है और बुझ जाती है।

(८०) फिर उसने देखा, कि-यह लोक और लोकपाल तो बना दिये और उनको भूँख प्यास भी मिलगई अतः अब उनके भोजनके लिये स्थान भी नियत होगया परन्तु उनके भोजनके लिये जब तक कुछ नहीं बनाऊँगा वह कैसे जीवित रहेंगे ? तब उसने उन जलोंसे अर्थात् पञ्चतत्त्वोंसे कुछ अंश लिया और उसको विलोया और गाढ़ा कर दिया उससे मूर्ति अथवा शरीर बनाया यही शरीर भोजन है।

(८१)--जब यह मूर्तिरूप भोजन तयार होकर उसके आगे रखा गया तो जिस प्रकार चूहा बिल्लीको देखकर चिल्लाता है और भागना चाहता है इसी प्रकार यह उसको यमराज जानता हुआ चिल्लाया और भागना चाहा परन्तु न भाग सका।

(८२)--उसने उसे वाणीसे खाना चाहा परन्तु न खा सका यदि वाणीसे खासकता तो अब भी भोजनका नाम लेनेसे ही उसका पेट भरजाता परन्तु ऐसा नहीं होता है।

(८३)--फिर उसने उसको नाकसे खाना चाहा परन्तु न खासका यदि नाकसे खासकता तो अब भी उसके सूँघनेसे तृप्त होजाता परंतु ऐसा नहीं होता।

(८४)--फिर उसने उसको नेत्रसे खाना चाहा परन्तु न खासका यदि नेत्रसे खासकता तो अब भी देखनेसे तृप्त होजाता परन्तु ऐसा नहीं होता है।

(८५)--फिर उसने कानोंसे खाना चाहा परन्तु न खासका यदि खासकता तो अब भी सुन कर तृप्त होजाता परन्तु ऐसा नहीं होता।

(८६)--फिर उसने त्वचासे खाना चाहा परन्तु न खा सका यदि खा सकता तो अब भी उसको छूनेसे तृप्त होजाता परन्तु ऐसा नहीं होता।

(८७)- फिर उसने मनसे खाना चाहा परन्तु न खासका यदि खासकता जो अब भी ध्यान करनेसे तृप्त होजाता परन्तु ऐसा नहीं होता।

(८८)--फिर उसने जननेन्द्रियसे खाना चाहा परन्तु न खासका यदि खासकता तो अब भी भोगसे तृप्त होजाता।

(८९)--फिर उसने अपानसे खाना चाहा और खागया यही भीतरी प्राण वास्तवमें खाने वाले हैं और शरीर भोजन है ज्यों २ वह इस भोजनको खाता है त्यों २ बाहरी भोजनसे उसका शरीर बनता रहता है इसप्रकार यह सब अण्ड उसके लोक और आध्यात्मिक आधिदैविक देवता मनुष्यमें आकर जीवन व्यतीत करते हैं इस लिये मनुष्य ही वास्तवमें इस अण्डका केन्द्र है।

(९०)--जिस प्रकार अण्ड (दायरा)और उसका व्यास केन्द्रसे कायम होते हैं यह सब चराचर मनुष्यसे स्थित हैं कुछ तो उसके भोजन हैं कुछ भोजनके करनेके यन्त्र हैं और प्राणदेवता जो सब देवताओंका पिता है वास्तविक खाने वाला है और यह शरीर भोजनके कारण स्थिर है इस लिये अब भीअनुभव होता है जो खाता है वह जीवित रहता है।

(९१)--यह मनुष्य इस ब्रह्माण्डका केन्द्र निर्णीत होगया और यही वास्तवमें ब्रह्मपुर अथवा परमात्माका दर्पण तयार हुआ था इस में उसका दर्शन होता है और इसमें सब देवता अपने नियत स्थानों पर इस प्रकार आकर विराजमान होगए, जिस प्रकार किसी राजाकी प्रतीक्षामें दरबारी लोग पहिलेसे ही दरबारमें आकर उपस्थित हो जाते हैं।

(९२)-फिर परमात्माने विचारा, कि-जब कोई अपना घर बनाता है परन्तु उसमें नहीं बसता है तो वह घर शून्य रहता है और किसी दरबारमें दरबारी एकत्रित होजाँय, परन्तु राजा न आवे तो वह दर-

बार भी बेकार होता है,क्या दुल्हाके विना बरात होसकती है ? क्या दर्पणमें जब तक अपने आप न उतरे दिखाई देसकता है ? अतः मेरे विना यह सब बेकार है।

(९३)-फिर उसने यह विचारा कि-जिसके लिए सभा बनाई जाती है,वह उसमें आजाय तो वह उसका अंश नहीं होजाता और वह उस सभाका स्वामी होता है। देखो ! ईंट लकड़ी आदि घरके अंश होते हैं और घर इनसे बनाया जाता है और बसने वाला भी घरके भीतर ही रहता है किन्तु वह उसका अंश नहीं होता, किन्तु स्वामी होता है।

(९४)-इसी प्रकार मैं भी इस पुरमें जो शरीर और प्राणसे अथवा अन्न खाने वालेसे बनाया गया है बस जाऊँ तो मैं उसका भाग नहीं बनजाऊँगा तथा घर अथवा पुर भी नहीं हो जाऊँगा, परन्तु घर वाला घरका स्वामी ही रहूँगा,

(९५)-देखो ! बरातमें दुल्हेके लिए जो २ पुरुष जाते हैं, बराती ही कहलाते हैं, परन्तु दुल्हा बरात नहीं होजाता और बराती(सोहिये बरात) होता है यद्यपि बरातके भीतर चलता है, इसी प्रकार मैं भी इसमें उतरूँगा तो यह पुर न बनजाऊँगा और पुरवाला होजाऊँगा प्राण आदि देवताओंकी बरात होगी और मैं उनमें दुल्हा होऊँगा।

(९६)-ये सब काम करने वाले हैं और काम प्रकाशके विना या दीपकके विना नहीं होसकता, अतः यह मुझ प्रकाशके विना किस प्रकार काम कर सकेंगे। यह तो काम करने वाले रहेंगे और मैं इन का साक्षी रहूँगा। ये सब मेरे साक्षित्वमें काम करेंगे और मैं दीपक तथा गवाहकी समान इनके कामोंसे पवित्र स्वच्छ और असंग रहूँगा।

(९७)-फिर उसने विचारा, कि-इसमें आनेसे मुझको केवल यही लाभ होगा, कि-अब मैं वाणीसे बात चीत करूँगा श्वाससे श्वास लूँगा, नेत्रोंसे देखूँगा, नासिकासे सूँघूंगा कानोंसे सुनूँगा, त्वचासे उष्णता और शीतलताका अनुभव करूँगा, मनसे विचार करूँगा, अपानसे जीवन बिताऊँगा और जननेन्द्रियसे विषयभोग करूँगा तब फिर मैं विचार करूँगा, कि-मैं कौन हूँ।

(९८)-पहिले मैं अपने पुरको पहिचानूँगा, फिर बरातको पहिचानूँगा।क्योंकि-पुर तो मेरी सवारी है और नेत्र कर्ण नासिका आदि

सब देखना बरातमें किसी न किसी सेवाके लिये नियत हुए हैं, इनमें मैं ही दूल्हा हूँ, ये सब मेरे लिए ही हैं। और जिस प्रकार दर्पणमें अपने आप दिखाई देता है, इसी प्रकार मैं विवेकसे अपने आत्माको देखूँगा।

(९९)-फिर मैं इनमें आकर विचार करूँगा, कि जिस प्रकार कारोबारी दीपकके प्रकाशमें कारोबार करते हैं, परन्तु दीपक उनके कार्यव्यवहारसे लिप्त नहीं होता इसी प्रकार ये सब मुझ दीपकके प्रकाशमें कार्यव्यवहार करते हैं, परन्तु मैं कार्यव्यवहार नहीं होजाता और न उनसे लिप्त होता हूँ यह आपसमें कार्यव्यवहार करते रहते हैं, मैं इनका साक्षी रहता हूँ, यह तो अँधेरे हैं मैं प्रकाश हूँ, और अन्धकारमें चमकता रहता हूँ। इस प्रकार विचार करके मैं अपने आपको इसके भीतर देखूँगा।

(१००)-जब इस प्रकार सोच कर उसने मनुष्यके भीतर आने का विचार कर लिया तो वह फिर यह विचारने लगा, कि-मैं इसमें किस मार्गसे प्रवेश करूँ? सब मार्गोंसे तो मेरे किंकर इसमें घुसे हैं, मेरे प्रवेश करनेका भी कोई मुख्य मार्ग होना चाहिये।

(१०१)-यह विचार कर वह ब्रह्मरंध्रको खोल कर मनुष्यमें प्रकाशित होने लगा। इसी कारण ब्राह्मण इसको ब्रह्मका द्वार कहते हैं और इसीको विदृति तथा नान्दन कहते हैं, जो मृत्युमें इस मार्गसे जाता है स्वर्गको जाता है, इस कारण इसको नान्दन कहते हैं।

(१०२)-जब वह इस प्रकार इस मनुष्यमें प्रविष्ट हुआ तो उस अविद्याके कारण जो मनोरूप दर्पणके पीछे लगाई गई है, उसको अपना आपा मानने लगा और यह अभिमान करने लगा, कि-मैं मनुष्य हूँ और उसके धर्म मेरे धर्म हैं।

(१०३)-उसकी तीन अवस्था और तीन निद्राओंकोभी अपनी मानने लगा। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति यह तीन तो मनुष्य शरीरकी दशाएँ हैं।-जाग्रत्में उसका स्थान नेत्र होता है, स्वप्नमें मन उसका स्थान होता है और सुषुप्तिमें हृदयाकाश उसका स्थान होता है वह नेत्रमें आनेपर बाहरकी सबवस्तुओंको देखता है, मनमें आकर मनोमय संसारको देखता है उसको स्वप्न कहते हैं। हृदयाकाशमें आकर अपने परमात्मस्वरूप ब्रह्ममें आनन्द करता है। इस प्रकार रातदिन तीनों लोकोंमें फिरतासा रहता है।

(१०४)--उसकी तीन निद्राएँ यह हैं पिताके गर्भमें रहना पहली निद्रा है माताके गर्भ रहना दूसरी निद्रा है और अपने शरीरमें तीसरी निद्रा होती है। अपने शरीरमें सोया हुआ बाहरी दुनियाँके लिये जागता रहता है परन्तु अपने दर्शन रूप जिस कामके लिये आया है उसको नहीं पाता इस लिये जब तक दर्शन नहीं पाता साधारण रूप से जागता रहताहुआ है वास्तवमें सोया रहता है।

(१०५)—परन्तु जब कोई परमदयालु गुरु उसके सामने वेदोंके महावाक्यरूप नरसिंहोंको बजाता है और विवेकसे उसको इस दर्पण में अपने रूपपर दृष्टि डालना वेदानुवचनकी शिक्षाके अनुसार सिखाता है तब तक वह अपने आपको देखता है और इस अविद्याकी निद्रासे जाग जाता है और नेति नेतिके नियमसे इन अवस्था और निद्राओं में फिरता हुआ और सम्मिलनको देखता हुआ समझता है, कि-- न तो मैं जाग्रत् हूँ न स्वप्न हूँ न सुषुप्ति हूँ और यह तीनों अवस्थाएँ मेरे भ्रमण करनेके स्थान हैं।

(१०६)--जब मैं जाग्रत्में आता हूँ तो जाग्रत्--संसार- की सैर करता हूँ, जब मैं स्वप्नमें आता हूं तो स्वप्नकी सैर करता हूँ और जब मैं सुषुप्तिमें आता हूँ तो सुषुप्तिकी सैर करता हूँ क्या जाग्रत् क्या स्वप्न और क्या सुषुप्ति सब मेरे स्थान हैं और मैं उनमें एक रस हूँ, मैं उनमें नहीं घूमता हूँ परन्तु यह तीनों अवस्थाएँ ही धागेमें घूमने वाले मालाके दानोंकी समान घूमती रहती हैं और मैं तो मालाके धागेकी समान उनका आश्रय हूँ और उसमें यह आती जाती रहती हैं।

(१०७)—परन्तु जिस प्रकार बादलोंके चलनेसे चन्द्रमा भी चलता हुआ दिखाई देता है इसीप्रकार बुद्धिकी उनकी चाल भी मुझ में प्रतीत होती है परन्तु यह उसका भ्रम है। मैं तो अखण्ड सच्चिदा-नन्द ब्रह्म हूँ जब यह इस बातको जानजाता है तो वास्तवमें जागता है अन्यथा सोया हुआ ही कहलानेका पात्र है परन्तु उसका यह जानना वेद वाणीके बिना नहीं होसकता, यह वाणीही उसको जगाने वाली है और यह वाणी ही उसकी गुरु है।

(१०८)—जब वह वेद वाणीके कारण अपने आपको देखता है कि-"यह मैं हूं" तो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति" इन तीनों अवस्थाओंसे

एक छलाँगमें ही लाँघ जाता है और अपने आत्मस्वरूपमें जो कि-उसका परमपद है उसमें पहुँच जाता है। विचार रूप छलाँग क्या ही अद्भुत है इसी कारण वह चौथे पदमें देखता है, कि-"यह मेरा स्वरूप है" इसी कारण दूसरे पुरुष उसको इदन्द्र कहते हैं।"

(१०९)-संस्कृतमें इदं नाम यह का है और द्र देखनेको कहते हैं अतः जो यह देखता है वह इदन्द्र होता है और इसीको सूक्ष्मरूपसे वेद जानने वाले इन्द्र कहते हैं और विद्वान् पुरुष इसी नामसे उसको इस प्रकार पुकारते हैं जिस प्रकार दरबारी राजाको असली नामसे नहीं पुकारते और महाराज ! अन्नदाता ! आदि नाम लेकर बुलाते हैं। इसी प्रकार विद्वान् पुरुष उसका असली नाम नहीं लेते और इन्द्र नामसे उसका स्मरण करते हैं।

(११०)-यह बात तो स्पष्ट है, कि-राजा देवता और स्वामीका असली नाम लिया जाता है, तो वे अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं। और जब स्त्री स्वामीसे देवकीके चाचा ! नारायणीके भाई ! आदि कहती है। और राजाके सेवक राजाको हे दयावान् ! हे न्यायकारिन् ! हे दीन-बन्धो ! आदि कहते हैं और देवताके उपासक देवताको हे दयालो ! हे कृपालो ! हे त्रिलोकीनाथ ! आदि नामोंसे पुकारते हैं, तब वे प्रतिष्ठा-वान् समझे जासकते हैं ! इस लिये वेदके जानने वाले ब्राह्मण इन्द्र और ईश्वर आदि नामोंसे परमात्माको स्मरण करते हुए उससे प्रार्थना करते हैं।

(१११)-जब, कि-मनुष्य और देवता भी परोक्षविशेषण (गायब-लकब) सेप्रसन्न होते हैं और अपने गुणोंसे आनन्दित होते हैं, तब उन सबके स्वामी महादेव परमात्माको भी इसी प्रकार प्रतिष्ठा करना उचित है। अत एव भक्त मनुष्य आत्माके प्रत्यक्ष नामसे दुःखित होते हैं और जो कोई सत्कार न करके इस रहस्यमय विषयके फलको बतलाता है उसे तत्त्वको न जानने वाला झूँठा समझते हैं।

(११२)-हे सज्जनो ! अब उसकी तीन निद्राओंके रहस्यको सुनो ! जब वह अविद्याके वशमें होकर काम करने लगता है और यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्मोंको करता है उस समय यदि वह पितृयान मार्गसे चन्द्रलोकको जाकर वहाँके भोग समाप्त होने पर वर्षामें उतरता हुआ फिर अन्न होजाता है और पुरुषाग्निमें हुत हो रक्त आदि होता हुआ

वीर्य होजाता है। यही उसका पहला गर्भ है और यही उसकी पहिली निद्रा है।

(११३)-वह वीर्य पिताके अङ्ग २ से निचोड़की समान निकल कर वीर्य नालीमें-एकत्रित होजाता है, उस समय पिता उसको अपने शरीरमें इस प्रकार धारण करता है जिस प्रकार माता गर्भके समय गर्भमें उसको धारण करती है तब पिता इस वीर्यको माताके उदरमें अर्पण करता है तो उसका पहिला जन्म होता है तात्पर्य यह है, कि-वह माताके उदरमें गर्भरूपमें रहता है और पिताके वीर्यसे उत्पन्न होता है।

(११४)-जब इस प्रकार पिता उसको उत्पन्न करता है अथवा अपने वीर्यका दान करता है तब माता उसको अपनेसे इस प्रकार अभिन्न कर लेती है जिस प्रकार उसके स्तन उससे अभिन्न रहते हैं और जिस प्रकार वह अपने स्तनोंकी रक्षा करती है उसी प्रकार वह गर्भकी भी रक्षा करती है, क्यों कि-वह जानती है, कि-मेरे पतिका आत्मा अथवा वीर्य मुझसे मिल गया है इसी कारणसे गर्भको हानि देने वाली वस्तुएँ नहीं खाती।

(११५)-स्त्री इस प्रकार अपने पतिको आत्माका पालन करती है और पति भी उसे अपने आत्माका पालक जान कर उसका पालन करता है और (बच्चे) के जन्मसे पहले और जन्मके पीछे अपने आप को उसमें आया हुआ जानता है और उस रीतिसे जातकर्म आदि संस्कार करता है और अपने मनमें जानता है, कि-मैं ही पुत्ररूप हो कर जन्म लूँगा।

(११६)-इसका कारण यह है, कि-जब वह पिता यहाँसे चल देता है तो यही पुत्र जो उसका दूसरा आत्मा और शरीर है। इस संसारमें स्थित और वर्तमान रहता है और फिर उस पुत्रका भी पुत्र इसीप्रकार सर्वदा इस संसारमें रहता है इस प्रकार पिता ही पुत्ररूप होकर इसमें स्थिर रहता है इस लिये उचित है, कि-प्रत्येक पुरुष इन लोकोंकी रक्षाके लिये पुत्रको उत्पन्न करे क्यों कि-मनुष्य ही इस अण्डका केन्द्र है और ऊपर जिस प्रकार सिद्ध किया गया है तिस प्रकार सब लोक और भुवन इसीके कारण स्थित हैं।

(११७)-जब यह माताकेगर्भमें आकर नियत समय पर निकला

है तो इस संसारीका वीर्यके द्वारा यह दूसरा जन्म होता है और यही पिता पुत्ररूप होकर शास्त्रानुसार पुण्य कर्म करनेके लिये पिताके स्थान पर नियुक्त होता है और पिताकी सम्पत्ति पाता है।

(११८)–परन्तु इसका पितारूप दूसरा आत्मा कृतकृत्य होकर परलोकको चला जाता है और जोंककी समान दूसरा शरीर पाता है यही उसका तीसरा जन्म है इस कारण पिता और पुत्र एक ही समझे जाते हैं और एक ही संसारी पिता पुत्र होकर लोक परलोकमें स्थित और वर्तमान रहता हुआ संसारी कहलाता है।

(११९) हे सज्जनो ! इस प्रकार जो कोई कर्मकरता है वह कर्म-काण्डके अनुसार संसारी होता है और जो शास्त्रनिषिद्ध पापमय कर्मोंको करता है वह अधोगति पाता है और इस संसार समुद्रमें डूबता रहता है और जो शास्त्रीय कर्म करता है वह ऊपरके लोकोंमें चढकर सोमराज होजाता है और फिर गिर पडता है और वह इस संसारमें इस प्रकार रहता है जिस प्रकार कोई रायुओंमें आनन्द करता है।

(१२०)–किन्तु जो पहले निष्काम कर्म करके मनके दर्पणको स्वच्छ करता है और फिर उस दर्पणमें अपने स्वरूपको देखता हुआ जब पहचानता है कि–"मैं सच्चिदानन्द हूँ" तब वह इस संसार समुद्रको तर जाता है और कर्मसे छूट कर ज्ञानमें स्थित होजाता है तुम भी अपने मनके दर्पणमें विवेकके द्वारा आत्माको इस प्रकार देखो जिस प्रकार मैंने देखा है और परमज्ञान पाया है। गर्भमेंसे उत्पन्न न हुए वामदेवने गर्भमेंसे ही उनको इस प्रकार समझाया था।

(१२१)–फिर उत्पन्न होनेके पीछे उसने सनक आदि ऋषियोंकी समान उपदेश देना आरम्भ करदिया और जब उसके इस जन्मके कर्म भी समाप्त होगए तब वह अपना शरीर छोड़ कर अपने स्वरूपमें स्थित हो सत्संकल्प सत्काम और आप्तकाम होकर अमृत होगया।

❀ नवम-परिच्छेद ❀

(१)–जब इस प्रकार वामदेवकी विचित्र दशा हुई तब ज्ञाना-भिलाषी ब्राह्मणोंने कर्मबन्धनसे मुक्त होकर वेदप्रतिपादित वामदेव आदिके द्वारा प्रचारित–ब्रह्मविद्याके द्वारा मिलने वाली सर्वरूपप्राप्ति

के लिए विचार किया। क्या आज कलके जिज्ञासु भी इस आत्माका दर्शन पानेके लिए एकत्रित होकर इसका विचार करते हैं ? क्या वे आपसमें प्रश्न करते हैं, कि—वह कौन आत्मा है, जिसको हम "यह हमारा आत्मा है" यह स्पष्ट रीतिसे मान कर उसकी उपासना करे ?

(२)-वह कौनसा आत्मा है ? जिसको प्रत्यक्ष देखकर वामदेव "यह मैं हूँ" कह कर अमृत होगए थे। हम भी वामदेवकी समान उसको देखें और उसको अपना आपा पहिचाने, फिर हम भी वामदेवकी समान इस संसारसमुद्रसे तरजावें और अमृत होजावें। और कर्मकाण्डसे छूटकर ज्ञानावस्थामें स्थित होजावें।

(३)-परन्तु उस समयके ज्ञानाभिलाषी आपसमें बूझनेलगे और आत्माको पानेके लिए परिश्रम करने लगे, तो उनको याद आया, कि—वामदेवने गर्भमें रह कर हमको सिखाया था, कि—इस मनुष्यमें सगुण और निर्गुण दो ब्रह्म रहते हैं, उनमें एक तो प्रजापति है, उसको मनुष्यकी आकृतिमें पञ्चतत्वोंसे बनाया गया था, वह इन्द्रिय देवता और लोकरूप होकर लिपटे हुए कपड़ेकी समान खुलता है और फिर जो आँख कान नाक मन आदिरूप होकर हममें आया हुआ है और भूखा प्यासा होता है और यह शरीर उसका भोजन है और वह उसका भक्षण करता रहता है और जब कर्म समाप्त होते हैं तो कपड़ेकी समान लिपट जाता है और इस शरीरसे निकलकर देवयान अथवा पितृयान मार्ग पर चलता हुआ उत्क्रान्त होकर चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है और तहाँसे उतर कर फिर संसारी होजाता है।

(४)-और दूसरा वह है, जो शिरको फाड़ कर ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे प्रतिबिम्बकी समान दर्पणमें आगया है और उसके प्रकाशमें यह दूसरा ब्रह्म (प्रजापति) फैलने सुकड़ने वाला कारोबार करता है और संसारी होता है। और दोनों एकके पीछे एक (क्रमवार) इस शरीरमें आकर इस शरीरसे अभिन्न होगए हैं, परन्तु इनमेंसे वह कौनसा है, जिसको हमें आत्मरूप मान कर उपासना करनी चाहिये?

(५)-तात्पर्य यह है, कि—इन विद्वानोंने वामदेवके उपदेशसे यह जान लिया, कि—शरीर तो एक पुर अथवा भोजन है। और वह जो पहिले देवतारूप फिर इन्द्रियरूप होकर दूसरे नियत किये हुए मार्गोंसे बरात अथवा दरबारियोंकी समान आया है, वह एक

प्राणात्मा है और यह इस शरीरको खाने वाला है और इसीके लिए यह भोजन खाया जाता है, यह खाये हुए शरीरके बदलेमें बदलता रहता है और यह प्राणात्मा भूखा प्यासा संसारी है, परन्तु वह दूसरा जो स्वयं ज्योतिः स्वयं विद्या, स्वयं सुख है और जिसके प्रकाशमें यह काम करता फैलता सुखदुःख जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति-जन्म मरण संसारका व्यवहार करता है, वही उसका दूल्हा है और वही नित्य-मुक्त है।

(६) इस दूल्हारूप नित्यमुक्त आत्माको जानना चाहिये। यह प्राणरूप बारातमें आकर तद्रूप होरहा है, विवेक द्वारा इसको देखना चाहिये और इसीको अपना वास्तविक आत्मा समझ कर कार्य करना चाहिये, क्योंकि-इसके दर्शनसे और इसके ज्ञानसे कि-"यह मैं हूँ" हम वामदेवकी समान अमृत और मुक्ति पाने योग्य हो जावेंगे। जब तक इस शरीरमें अहङ्कारकी पहिचान-अभिमान-है, तब तक हम मनुष्य हैं और जब हम प्राणात्मामें अहङ्कार करने लगते हैं तो मनुष्य-जातिसे निकल कर प्रजापतिकी जातिमें आजाते हैं और द्विजाति बन कर यज्ञ आदिका अधिकार पाते हैं और पिता पुत्र बन कर ऊपर नीचे संसारमें संसारी और भोगी होते रहते हैं।

(७)-देखो! जो अपने शरीरका अभिमान रखता है वह स्वयं शरीर है और वही मनुष्य है, वही मनुष्यकी सन्तान है, क्योंकि-यह शरीर मनुष्यके वीर्यसे क्रमपूर्वक बनता हुआ चला आया है, परन्तु यह सूक्ष्म पुरुष जो इसके भीतर नेत्र कान नासिका और मन रूप हो कर प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजापतिका पुत्र है, मनुष्यका पुत्र नहीं है क्योंकि—वामदेवके उपदेशमें कहा गया है, कि—सूक्ष्म वही है जो प्रजापतिसे देवताके रूपमें उत्पन्न हुआ है और क्षुधा पिपासाके कारण इन्द्रियरूप होकर इस मनुष्यमें आगया है।

(८)-और यह शरीर जो मनुष्य और मनुष्यकी संतान है, यह भोजनस्वरूप है, क्योंकि-प्रजापतिका पुत्र सूक्ष्मशरीर जो इसके भीतर आगया है और इसमें मिल रहा है इसको नित्यप्रति खाता रहता है और इस खानेसे उत्पन्न होने वाली कमीको भोजन पूर्ण कर देता है यही कारण है, कि-उत्पन्न होने पर तो यह शरीर बालक होता है और भीतरसे ईश्वरका पुत्र इसको खाता है और यह इसे भोजनसे

बढ़ता भी रहता है, इस प्रकार यह युवा होजाता है और फिर उतना ही भोजनसे बदलता है कि-जितना ईश्वरका वंशज भीतरका मनुष्य इसको खाता है। फिर तो यह शरीर उतना भी नहीं बदलता और ईश्वरके पुत्रका भोजन होता हुआ घट जाता है, तो इसीको बुढ़ापा कहते हैं।

(९)-जब यह वृद्धावस्थामें इतना जीर्ण होजाता है, कि-भोजन से कुछ नहीं बदलता तो ईश्वरके पुत्र सूक्ष्मशरीरके भोजनके योग्य नहीं रहता, परन्तु जब सूक्ष्मशरीरके भोग समाप्त होजाते हैं, तब ऐसा होता है, इस दशामें प्रजापतिका पुत्र इसको छोड़ कर इससे पृथक होजाता है और गिर जाता है और मट्टीमें मिल जाता है। क्योंकि-इसका कर्मोंके भोगसे कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि-यह तो भोजन और भोगरूप स्वयं ही है।

(१०)-जो मनुष्य शरीराभिमानका विश्वास करता है, वह भी वास्तवमें शरीर ही है और वह स्वयंभोजन है स्वयं शव है उसको कर्मोंकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि-वह तो भोक्ता अथवा जीवित नहीं है। इसी कारण शरीरमें अभिमान रखने वाला शूद्र वास्तवमें मनुष्य है और मनुष्यकी सन्तान है, उस पर कर्मोंका प्रभाव नहीं पड़ता अतः वह नाशवान् है और उसके भीतरी प्राण सेवाके प्राण हैं। यही कारण है, कि-उसको यज्ञ आदिका अधिकार नहीं है, द्विजातियोंकी सेवाका ही अधिकार है और वह भी इस लिए है, कि-वह उनकी सेवासे स्वच्छ और पवित्र होजाय। जब तक वह उनके उपदेशसे मनुष्यवंशज शरीराभिमानको छोड़ कर ईश्वरके पुत्ररूप अहंकारमें नहीं आता है, तब तक यज्ञ आदि नहीं कर सकता।परन्तु जिन पुरुषों का विरोचनकी शिक्षाके कारण उससे छूटना असंभव है, ये मनुष्य वास्तवमें चाण्डाल और म्लेच्छ हैं।

(११) देखो ! पहिली उत्पत्तिमें द्विजका बालक भी अपने शरीर में अहंकारका अनादिकालसे अनुभव करता चला आरहा है। यदि उसको धार्मिक शिक्षा न दे और यौंही छोड़ दें, तो चाहे वह पश्चिमके विद्यामें भले ही निपुण होजाय परन्तु अपने शरीरको अपना आपा ही मानता रहेगा। और चतुर मान कर जानता है, कि-"एक सूक्ष्म वस्तु प्राण भी मेरे भीतर रहता है, परन्तु वह मैं नहीं हूँ और यह मुझमें

रहता है, जब यह चला जायगा तो मैं मुरदा हो जाऊँगा और मुझमें यह जीवन दूसरे प्राणके कारणसे रहता है" यद्यपि वह प्राणके सहारे जीवित रहता है, तो भी प्राणके बिना जड़शरीर होता है अतः उस पर पुण्य पापोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि-प्राणका पाप (गुनाह मौरूसी) उसमें चला जाता है जो उसको सेवाका प्राण विश्वास कराता है।

(१२)-परन्तु जब वह वेद शास्त्रोंके नियमानुसार द्विजातियोंमें सर्वदासे प्रचलित संस्कारोंके द्वारा आठ नौ वर्ष पीछे जान जाता है, कि-"यह शरीर तो वस्त्रोंकी समान बदलता रहता है, भोजनसे सर्वदा नवीन होता रहता है, यह मैं नहीं हूँ, परन्तु जो प्राण इसके भीतर इस को खाता बदलता नचाता और पचाता है वही मैं हूँ" उस समय यह मनुष्यश्रेणीसे निकल कर ईश्वरका पुत्ररूप होजाता है। क्योंकि-मनुष्य का प्राण प्रजापतिका अंश है, यह बात वामदेवके उपदेशसे प्रकट हो गई। उस समय ज्ञानद्वारा उसका नवीन जन्म होता है और वह प्रजा-पतिका पुत्र तथा उत्तराधिकारी होजाता है। इसका पहिला जन्म मानुषी श्रेणीका होता है और दूसरा जन्म प्रजापतिकी श्रेणीका होता है। प्रत्येक मनुष्यका यह जन्म गुरुकी शिक्षासे होता है। इस कारण इस श्रेणीके मनुष्योंको द्विजन्मा अथवा द्विजाति कहते हैं। और ये प्रजापतिके उत्तराधिकारी ही प्रजापतिके यज्ञ आदि कर्मोंके अधिकारी होते हैं।

(१३)-यद्यपि द्विजाति बालक इस प्राणात्मामें अहंकार करके मनुष्यश्रेणीसे निकल कर ईश्वरश्रेणीमें आजाता है और यज्ञ आदि कर्मोंसे पितृयानके द्वारा सोमराज होकर परम महत्त्व पाता है तब भी कर्मफलके समाप्त होने पर फिर कर्म करनेके लिए च्युत होकर संसारी होजाता है, परन्तु मनुष्य तो सेवाभावसे यहाँ जन्म मरण पाता रहता है, और द्विजाति अच्छा होने पर भी संसारी क्षुधा पिपासा आदि पापोंसे लिप्त रहता है अतः मुक्ति नहीं पाता।

(१४)-परन्तु यह दूसरा आत्मा जो दूल्हा है और बरातमें इन के कार्यव्यवहारका साक्षी बन कर आया हुआ है अकर्ता अभोक्ता असंग आत्मा और साक्षिस्वरूप है और यह अपनी सुन्दरताको देखने के लिए दर्पणमें अवतीर्ण हुआ है, यह हमारा अपना आपा है-अपना

स्वरूप है-इसकी ही उपासना करनी चाहिये, इसीको देखना चाहिये, उसकी पहिचान होनेसे ही ज्ञान होता है; इसकी पहिचानसे हम मोक्ष पासकते हैं,इसकी पहिचानसे हम ज्ञानावस्थामें स्थित होसकते हैं और इसीको जान कर हम अमृत होसकते हैं।यही दशा वामदेवकी हुई है।

(१५)-तात्पर्य यह है, कि-वामदेवकी शिक्षामें हमने शरीरमें दो ब्रह्मोंके आगमनका वर्णन सुना है। दोनों ही इसके शरीरमें इसके आत्मा होरहे हैं। इन दोनोंमेंसे एक उपासना करने योग्य है अतः हम को खोजना चाहिये, कि-वह कौनसा है ? इस प्रकार विचार करते२ उन्होंने यह निश्चय किया, कि-दोनों ही इस शरीरमें अनेक प्रकारके यंत्रोंका व्यवहार कर चेष्टा करते रहते हैं किन्तु जिन यंत्रोंसे वे चेष्टा करते हैं, वे यंत्र परमात्मा नहीं है, किन्तु जो इनको पाता हैं, वही परमात्मा है।

(१६)-अब हम इस बातका विचार करते हैं, कि-किस कारण से यह वस्तुएँ जानी जाती हैं और इनको जानने वाला कौन है ? तो विचार करने पर प्रतीत होता है, कि-यह नेत्रोंके कारण रूप रङ्गको देखता है, कानोंसे शब्दको सुनता है, घ्राणसे गन्ध लेता है, जिह्वासे बोलता है, रसशक्तिसे खट्टा मीठा स्वाद लेता है। ये सब इन्द्रियें और यन्त्र एक प्राणात्मा ही हैं, प्रजापतिसे देवतारूपमें उत्पन्न हुए हैं, फिर इन्द्रियरूप होकर शरीरमें आये हुए हैं।

(१७)-हमको वामदेवने जो उपदेश दिया था, कि—यह अनेक रूप वाले इन्द्रियदेवता एक प्रजापति हैं अब हम स्वयं विचार करके भी इसको सत्य पाते हैं। क्योंकि—हम देखते हैं कि-एक ही अन्तः-करण नेत्रोंमें आ दृष्टि होता हुआ रूप रंग दिखाने वाला होजाता है, वही अन्तःकरण कानोंमें आ श्रवणशक्ति बनता हुआ शब्दोंके सुनने का द्वार होजाता है और नाकमें आ घ्राणपुरुष होता हुआ गंध और दुर्गंधकी पहिचानका कारण होजाता है और हृदयकमलके भीतर मनोरूप होकर उन दिखाई हुई वस्तुओंका चिंतवन करता है और उनकी अच्छाई बुराईका पहिचाननेका द्वार होजाता है और पहिचान नेके लिए सोच विचारका (आला) यंत्र होजाता है।

(१८)-क्योंकि-दृष्टिशक्ति श्रवणशक्ति घ्राणशक्ति और रसनाशक्तिके द्वारा हम जिन पदार्थोंको पाते हैं उन सबको हृदयकमलके भीतर मनके

कारण सोचते और याद करते हैं;इनकी अच्छाई और बुराईका विवेचन करतेहैं औरविवेचन करके सोच २ कर उनका विश्वास करते हैं। यदि इन्द्रियोंसे भिन्न होता तो इन्द्रियोंके दिखायेहुए विषयको मनसे किस प्रकार याद किया जासकता था और बुद्धिसे किस प्रकार विश्वास किया जाता क्योंकि-जो देखता है वही याद करता है और जो जानता है वही सोच करता है और जो सोच करता है वही विश्वास करता है। इस प्रकार एक ही अन्तःकरण अमुक २ स्थानोंमें आकर खास २ रीति पर फैल कर वृत्तिरूप होता भिन्न २ काम करता हुआ, इन्द्रिय मन और बुद्धि इस प्रकार भिन्न २ नाम पाता है, वास्तवमें वह एक प्राण ही है।

(१९)-सनकादि ऋषियोंने भी हमको उपदेश दिया है और कौषीतकि उपनिषद्में लिखा है, कि—वह आत्मा पहिले मनमें प्रकाशित होता है फिर मनोवृत्तिके द्वारा कण्ठमें बैठ कर बात चीत करता है और वही मनोवृत्ति यहाँ वाणी कहलाती है और जब उस मनोवृत्तिसे नेत्रमें आकर दृष्टिसे देखता है, तो वही मनोवृत्ति यहाँ दृष्टि कहलाती है।

(२०)-वाजसनेयी श्रुतिका भी यही तात्पर्य है, वह श्रुति कहती है, कि—"मनसे ही देखता है मनसे ही सुनता है" इस प्रकारकी श्रुतियोंसे प्रतीत होता है, कि—एक ही मन अनेकरूप हो मुख्य मुख्य स्थानोंमें रह कर इन्द्रियें कहलाता है, वह ही सोच विचारके समय मन, विश्वासके समय बुद्धि, स्मरणके समय चित्त और अभिमानके समय अहङ्कार कहलाता है, यह सब एक ही प्राणदेवता प्रजापति है। लिखा भी है कि—जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वह ही प्राण है। क्योंकि—जब वह खाता पचाता बनाता निकालता या खींचता है तो प्राण कहलाता है, जब वह जानता और पहिचानता है तो प्रज्ञा कहलाता है, इस लिये एक है। केवल काम करने पर प्राण और पहिचान करने पर अन्तः करण कहलाता है। और वामदेवकी शिक्षामें भी इसी प्रजापतिका वर्णन हमने सुना था, कि—पहिले यह देवतारूप होकर उठा, फिर इन्द्रिय व यन्त्रोंके रूपमें होकर बरात व दासकी समान मनुष्यमें आया हुआ है।

(२१)—जब कि—वेदकी श्रुति और प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध होगया

कि-एक ही ईश्वर प्रजापति पिता पुत्ररूप बन कर फैल रहा है और छोटे मनुष्यमें आहुति और भोजन पानेके लिए आया हुआ है और उसका चाकर अथवा दास है, अतः हमें उसको ढूँढना चाहिये और उसको अपना स्वरूप समझना चाहिये, उसके दर्शनसे हम मुक्ति पा सकते हैं। यद्यपि यह बडा विचित्र है और अद्भुत काम करने वाला है तथापि यह (प्रजापति) उसका मजदूर और दास है और सब दृश्य तथा भोगोंको उसीमें उसीके लिए कल्पना करता है, क्योंकि—उस (ब्रह्म) के विना यह कुछ भी नहीं कर सकता।

(२२)-देखो ! जब हम स्वप्नमें जाते हैं तो यह दूल्हा आँख नाक कानसे उतरता हुआ-हटता हुआ नाड़ियोंके द्वारा हृदयके खोलमें उतरता हुआ मनके भीतर पोलमें अपने खास परमानन्दस्वरूपमें आराम करता है, तब अन्तःकरणरूप प्रजापतिका पुत्र बेकार होजाता है, उस समय वह अपने आप कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं सोचता। परन्तु जब तक ईश्वरीय नियमके अनुसार उसकी प्रतीक्षा होती है, कि वह फिर जाग्रत्में इस शरीरमें आवेगा, तो वायरूप प्राण अपना काम करता रहता है और इस शरीरको पालता रहता है तथा खाता रहता है और जब ईश्वरीय नियमानुसार उसके कर्मफलोंकी समाप्ति होने पर उसके फिर यहाँ दर्शन देनेकी आशा नहीं रहती, तो वायरूप प्राण भी बेकार होजाता है और उसीको सब लोग मृत्यु कहते हैं।

(२३)-फिर हम यह भी देखते हैं, कि-जब यह दूल्हा (आत्मा) आँख नाक और कानसे उतर तो जाता है, परन्तु हृदयके पोल(आकाश) में नहीं जाता और नाड़ियोंके भीतर ही वर्तमान रहता है, उस समय वह इन्द्रियोंको तो छोड़ देता है, परन्तु मनको नहीं छोडता और उस पर जाग्रत् दशाओंकी समान ही सवार रहता है, तब उस समय मन इन्द्रियोंके बन्धनसे छूट कर स्वतन्त्र होजाता है, अत एव उसकी सेवाके लिए झट पट स्वप्नमय विचित्र संसार बनाता है, उसमें कहीं तो उसको स्त्रियोंसे लीला करवाता है और कहीं गाड़ियोंकी सवारी बन कर उसको सवार कराता है और उसके लिए तुरत ही घोडे सडकें और बाग बगीचारूप होजाता है।

(२४)-और मृत्युके पीछे कर्मानुसार असत् कर्मोंके बंधनोंसे शून्य होता है और पुण्यकर्मोंके बन्धनमें बँधा हुआ होता है, तो स्वर्ग

और अप्सराओंको रचता हुआ ऊपरके लोकोंकी सैर कराता है और कर्मफलके समाप्त होन पर फिर यहाँ लाकर इन्द्रियोंके बन्धनमें पड़ जाता है और जब यह मन उसके दर्शनके लिए कि–"मैं परमात्मा हूँ" इस प्रकारके ज्ञानमें परिणत होजाता है तो सत् असत् बन्धनोंसे छूट जाता है और ज्ञानस्वरूपमें स्थित होजाता है, और दूल्हा तो सर्वदा अपने परमानन्दमें मग्न रहता है, परन्तु यह मन छायाकी तरह ब्रह्म-लोकके सत्संकल्प सत्काम आदि कर्मफलोंको विना मूल्य ही उसके लिए रचता है और उसीमें सब कुछ कल्पित करता रहता है।

(२५)–इससे विदित हुआ, कि–जिस प्राणात्माको हमने अपना स्वरूप जाना था और मनुष्यतासे छूट कर हम द्विजन्मा होगए थे और शरीरधारियोंमें हम ज्ञानी होगए थे, यद्यपि वह (प्राणात्मा) महादेव है तथापि इस परमात्माका चाकर और बदलने वाला है और क्षुधा पिपासारूप धर्मोंसे धर्मी है और उसके सामने कुछ भी हकीकत नहीं रखता और उसकी छाया है, वह ही हमारा आत्मा है, उसीकी हमको उपासना करनी चाहिये, उसको ही पानेसे हम मुक्त होसकते हैं, वह ज्ञानका स्वामी है और यह तो चाकर है तथा कर्मके वशीभूत रहता है। सज्जनो ! कर्म भी अच्छा हो, परन्तु तुम ज्ञानकी ही अभिलाषा करो, ज्ञानको ही माँगो। कर्मसे छुटकारा नहीं मिल सकता, ज्ञानसे ही मुक्ति मिल सकती है।

(२६)–फिर उन ब्राह्मणोंने यह विचार किया, कि–प्राणात्मा छायाकी समान है उसीमें कल्पित है, उसकी सर्वदाकी शक्ति है, वह कर्मशक्ति और ज्ञानशक्ति इस प्रकार दो रूपोंमें बँट रही है। जब वह एक ही शक्ति छायाकी समान उसमें जान पहिचानकी आकृतिमें चेष्टा करती है और सत्ताको बतलाती है, तो वही ज्ञानशक्ति कहलाती है।

(२७)–जब वह शक्ति छायाकी समान कर्मोंके रूपमें चेष्टा करती है, तो वही कर्मशक्ति (कुव्वते अमली) कहलाती है और इसको संस्कृत में क्रियाशक्ति भी कहते हैं। तात्पर्य यह है, कि–इस प्राणात्मामें छाया की समान चेष्टा और परिणाम (तमय्युज और तगय्युर) रहताहै। क्योंकि जब वह जान पहिचानके रूपमें चेष्टा करता है और परिणत (तबदील) होता है, तो जाना जाता है, कि–यह जानता है। और जब पहिचानके रूपमें नहीं किन्तु कर्मोंके रूपमें बदलता है तो कर्ता प्रतीत होता है। इस

प्रकार जान पहिचान और करना इस दासका ही उसमें भ्रमरूपसे कल्पित होता है। इस प्राणात्माके विना न वह जानता है, न वह करता है वह तो जान पहिचान और कर्मोंसे असंग अकर्ता और अभोक्ता है।

(२८)-और हमारे भीतर जान पहिचानकेरूपमें बदलने वाला यह प्राण भी उस आत्मप्रकाशके प्रकाशमें ही चेष्टा करता है, क्योंकि-कोई भी प्रकाशके विना काम नहीं कर सकता। देखो सुपुप्ति! और मृत्युमें यह प्राणात्मा काम करता हुआ नहीं दीखता इससे सिद्ध होता है, कि-उसके भीतर जो ज्ञानज्योति है वह ही परमात्मा है और प्रकाश कारोबारके प्रकाशित होनेका सबब-कारण-होता है परन्तु कारोबारी नहीं होजाता और असङ्ग साक्षी है।

(२९)-अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि—प्राणात्मा जान पहिचान (दानिस्त) और कर्म (चेष्टा) इन दो प्रकारकी चेष्टाओंका धारक है और यह प्रकाशात्मा चेष्टा नहीं रखता केवल प्रकाशित होता रहता है। बस जो भीतर जान पहिचान और कर्मकी चेष्टा रखता है-जिसमें भीतर जान पहिचान और कर्मोंकी चेष्टाहोती रहती हैं वह ही प्राणात्मा है और चाकर तथा छाया है और जो इसमें प्रकाशित होता रहता है और प्रकाश है, वह ही परमात्मा है।

(३०)-इसप्रकाशको पाञ्चभौतिक प्रकाश नहीं समझना चाहिये, यह तो ईश्वरीय प्रकाश है और यह प्रकाश देखता है। सूर्य यद्यपि प्रकाश है, परन्तु वह देखता नहीं है। सूर्य चन्द्रमाको नहीं देखता और चन्द्रमा भी सूर्यको नहीं देखता है, अत एव ये सब पाञ्चभौतिक प्रकाश हैं, परन्तु जो सूर्यको चन्द्रमाको और बाहर तथा भीतर मनोवृत्तियोंको भी जानता है और देखता है, वही प्रकाश है पाञ्चभौतिक प्रकाशोंमें उसकी गणना नहीं होसकती और वह ब्रह्म है, वही आत्मा है। मनोवृत्तियें उसके दर्शनके लिए दर्पणकी समान होरही हैं। क्योंकि-जब २ मनोवृत्ति उठती है तो उसमें यह दर्शनरूप प्रकाश पड़ता है और इन वृत्तियोंको देखता हुआ वृत्तियोंके द्वारा आँख कान नाकआदिमेंआकर उनको प्रकाशित कर बाहरी पदार्थोंको भी देखता और सुनता है।

(३१)—बस यह मनोवृत्तियें दर्पणका द्वारमात्र हैं, इनके द्वारा इसको पाया जाता है। और जो इनमें आता है और इनके द्वारा सबको पाता है, वह प्रकाश है और वही परमात्मा है। जिस प्रकार दर्पणके

हिलनेसे मुख भी हिलनेसा लगता है, परन्तु हिलता नहीं है, इसप्रकार इन वृत्तियोंकी चेष्टासे भ्रमवश-वह भी चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वह न हिलता है, न चेष्टा करता है, किन्तु वह तो देखने वाला स्वयंज्योति प्रकाश है।

(३२)-फिर उन ब्राह्मणोंने समझ लिया, कि-वह असङ्ग है और सबका देखने वाला है, उसको कोई नहीं देख सकता। क्योंकि—मन प्राण शरीर सूर्य और चन्द्रमा आदि सब पाञ्चभौतिक हैं-जड़ हैं और पाञ्चभौतिक पदार्थ तथा पञ्चभूत नहीं देख सकते यह तो सबको जानता है और सबको देखता है और जो देखनेकी शक्ति रखता है वह दिखाई नहीं देता है। तब भी ज्यों ज्यों मनोवृत्तियाँ उसमें उठती हुई दिखाई देती है त्यों २ उनके ही द्वारा देखने वाला एक साक्षी प्रकाश प्रतीत होता है, फिर क्यों कि-हम यह भी विश्वास करते हैं, कि-हम ने इन मनोवृत्तियोंको देखा इस लिये हम ही देखने वाले और हम ही साक्षी हैं। यह पहिचान ही इस ब्रह्मका देखना है और इस दर्पणमें देखनेका यही ढंग है, दूसरा ढंग नहीं है।

(३३)—जब उनको प्रतीत होगया, कि-मनवृत्तियोंमें उनका देखने वाला ही रहता है और उसकी इसी प्रकार पहिचान होती है, जिस प्रकार आँख दर्पणमें दिखाई देती है। इस लिये उन्होंने जिन मनोवृत्तियोंको और उनमें परमात्माको देखा, उनको हम यहाँ लिखते हैं, कि-"संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति" ऐतरेय उपनिषद् अध्याय ३ खण्ड १ मन्त्र ४। अर्थात् संज्ञान आज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टि धृति मति मनीषा जूति स्मृति संकल्प क्रतु असु काम वश (अहङ्कार और अविद्या) ये मनोवृत्तियें हैं।

(३४)—संज्ञान नाम जान पहिचानका है, यह प्रत्येक जीवमें होती है, यह अन्तःकरणकी एक वृत्ति है, जब यह खुलती है तो इसी आत्माका नाम जीव होता है। क्योंकि-जो कुछ जानकारी रखता है, वह जीव कहलाता है मट्टी पत्थर आदिमें यह जानकारी नहीं होती, जानवरोंमें यह जानकारी मिलती है।

(३५)—जिस नियमसे यह सब संसार बनता है और ईश्वरीय काम होते हैं उस नियमका?उस वृत्तिका?नाम आज्ञान है, और यह भी

अन्तःकरणकी एक वृत्ति है और यही आत्मा इस वृत्तिके कारण ईश्वर कहलाता है।

(३६)—विज्ञान नाम उस जानकारीका है जो शिक्षासे बुद्धिके रूपमें प्राप्त होती है और इसके कारण मनुष्य बुद्धिमान् कहलाते हैं यह भी अन्तःकरणकी एक वृत्ति है और इसगुणके कारण आत्मा बुद्धिमान् कहलाता है।

(३७)—सद्विचारोंका नाम प्रज्ञान है। विज्ञान ता नियमसे फल निकालता है और अन्तःकरणकी यह वृत्ति तो विना नियम तुरत ठीक परिणाम पर पहुँच जातीहै बहुतसे मनुष्य इसको देववाणी कहते हैं। और यह उन ऋषि मुनियोंमें प्रकट होती है, जो सृष्टिके आरम्भ में वेदको प्रचलित करनेके लिए उत्पन्न होते हैं। इस प्रज्ञानके कारण यही आत्मा वेदका चलाने वाला ईश्वर कहलाता है।

(३८)—जो सीखी हुई वस्तुको ग्रहण करती है और उसकी रक्षा करती है उस वृत्तिका नाम मेधा है। और इन्द्रियोंके द्वारा जानी हुई वस्तुको जानने वाली वृत्तिका नाम दृष्टि है। और धारणाका नाम धृति है। यह एक अन्तर्वृत्ति है, मनुष्य इससे सब चिन्ताओंको दूर कर सकता है और शांति प्राप्त कर लेता है,उसकी प्रशंसा करके मनुष्य कहते हैं, कि–अमुक मनुष्य बड़ा सहनशील और गम्भीर है, यह गुण इसी वृत्तिके कारण उपलब्ध होता है।

(३९)—विचारका करने वाली वृत्तिका नाम मति है। स्वतन्त्र वृत्तिका नाम मनीषा है। शरीरके रोग ओर दुःखोंका आत्मामें भ्रम कराने वाली वृत्तिका नाम जूति है। स्मरण करने वाली वृत्तिका नाम स्मृति है, जो पदार्थ पहिले कभी देखा हो वा सुना हो उसका यह अनुभव कराती है। सङ्कल्प उस वृत्तिका नाम है जो श्वेत अथवा काली आदि प्रत्येक आकृतिमें देखी हुई वस्तुको अपने भीतर उसके रूपमें ज्योंका त्यों दिखाती है। क्रतुवृत्ति उस विश्वासका नाम है जो एक ऐसी बात पर पक्का होता है कि–उसके अतिरिक्त और किसी बात को नहीं मानता। जिसके द्वारा जीवन व्यापार चलता है उस प्राणको असुवृत्ति कहते हैं।

(४०)—काम नाम उस वृत्तिका है। जो अनुपस्थित वस्तुकी ओर ध्यान दिलाती है, इसीको तृष्णा भी कहते हैं। जो स्त्रीकी लगन

लगाती है उस अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम वश है। अहङ्कार नाम उस अन्तर्वृत्तिका है जो शरीरमें अभिमानका संबंध अथवा आत्मामें अभिमान कराती है। जब यह शरीरमें अभिमान कराती है तो उसको मलिन अहंकार कहा करते हैं, क्यों कि-वह अविद्या और अभिमान वश ऐसा करती है और जब वह ज्ञानवश आत्मामें अभिमान करती है और शरीरमें अनात्मत्वका विश्वास करती है तब उसको शुद्ध अहंकार कहा करते हैं। यह ज्ञानके कारण मलिन अहंकारसे शुद्ध अहंकार में बदल जाती है। इसी पर मुक्ति निर्भर है।

(४१)-अज्ञानका नाम अविद्यावृत्ति है, यह तूला अविद्या और मूला अविद्या इन दो भेदोंसे दो प्रकारकी है। सांसारिक वस्तुओंको न समझनेका नाम तूला-अविद्या है और आत्माको न जानने देनेवाली अविद्याका नाम मूला अविद्या है। तूला अविद्या तो सांसारिक विद्या के पढ़नेसे दूर होजाती है और मूला अविद्या आत्माको जाननेसे और ज्ञानसे दूर होती है। सुषुप्तिमें स्वाभाविकरीतिसे ये दोनों अविद्याएँ रहती हैं। वृक्ष आदिमें यह दोनों विद्याएँ अधिकांशमें रहती हैं। इस कारण न तो वह पहिचानते हैं और न अपने आपको जानते हैं, इसी लिए उनको जड कहते हैं, परन्तु जब संज्ञानवृत्ति खुलती है तो उसी को चैतन्य कहते हैं।

(४२)-हे सज्जनों! उन ब्राह्मणोंने इन सब वृत्तियोंको आत्माकी वृत्ति जान कर यह विश्वास किया, कि-ये सब वृत्तिएँ वास्तवमें प्राणात्मा हैं। जैसे नदी लहरें लेकर झाग बुद्बुद आदि होजाती है इसी प्रकार यह प्राणात्मा भी लहरें लेकर इन वृत्तियोंके आकारका हो जाता है और आप कुछ सत्ता नहीं रखता और छायाकी समान आत्मा ही प्रकट रहताहै। ये वृत्तियें जिस नाम रूपको धारण करतीहैं आत्मा भी उन ही नाम रूपोंमें दिखाई देता है। इस लिये अज्ञ पुरुषको इन का भेद समझना कठिनसा पड़ जाता है।

(४३)--संज्ञान आज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टि मति मनीषा जूति स्मृति संकल्प क्रतु काम असु वश अहंकार धृति और अविद्या ये सब वृत्तिएँ उसी प्रज्ञानके नाम हैं कि-जो वास्तविक आत्मा है यथा कुलिया घड़ा प्याला आदि सब मट्टीके ही आकार और नाम हैं और मट्टी इनसे उत्कृष्ट है। इसी प्रकार यह सब आत्मप्रकाशमें कल्पित हैं

(४४)—जब उसमें संज्ञानवृत्ति कल्पित होती है तो उसी आत्मा को जीव कहते हैं और जब उसमें आज्ञानवृत्ति कल्पित होती है तो उसीको ईश्वर कहते हैं। विज्ञानमें विज्ञान; प्रज्ञानमें प्रज्ञान और मेधा में मेधा आदि नामोंसे यही लक्षित होता है। जब चतुर पुरुष उसमेंसे इन सबको अलग करके देखते हैं, तो यह बेनाम बेपते इकला और अविनाशी आत्मा प्रतीत होता है।

(४५)—अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि—जो बात जिस अर्थके लिए कही जाती है, जब उस शब्दसे उसकी पहिचान होती है तो उसको वाच्यार्थ कहते है, परन्तु जब उस शब्दसे उसके कुछ (एक) भागको छोडकर कुछ (शेष) भागका ज्ञान होता है तो वाच्यार्थ नहीं कहते और लक्ष्यार्थ कहते हैं। अस्तु, संज्ञान ज्ञान प्रज्ञान और मेधा आदि सब नामोंका वाच्यार्थतो प्राणात्माहै और इन शब्दोंका लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा है। इस लिए भाषा जानने वालोंको रहस्य और लक्ष्यार्थों का तत्त्व जानना चाहिये।

(४६)—जब हम उसको प्रज्ञान शब्दसे कहतेहैं तो जानना चाहिये कि—आत्मा और अन्तःकरणकी प्रज्ञानवृत्ति मिल कर प्रज्ञान शब्दका वाच्यार्थ है और रहस्यज्ञाता उसमें प्रज्ञावृत्तिको भिन्न करके शेष भाग (शुद्ध आत्मा) को प्रज्ञानका लक्ष्यार्थ समझे अतएव आत्माको कोई वचन नहीं बता सकता क्योंकि—उसका न तो कोई रूप है और न कोई निशान है, तब वाणी उसको कैसे बतला सकती है ? तब भी वाणी उसको लक्ष्यार्थसे बता सकती है। इसी लिए हम कहते हैं, यह सब नाम उसीके हैं और वह इन नाम रूपोंसे पवित्र है।

(४७)—क्योंकि—जब एक वृत्ति इससे दूर होती है तो दूसरी वृत्ति उसके स्थानको घेर लेती है और दूसरी वृत्ति दूर होनेपर तीसरी वृत्ति आजाती है, परन्तु यह अकेला आत्मा जिस वृत्तिसे आच्छादित होता है उसीके रूपमें होकर देखता है। इस कारण हम जान सकते हैं, कि—अब वह वृत्ति चली गई और वह आगई। जो इन वृत्तियोंके भाव अभाव और संयोग वियोगका साक्षी है, वही हमारा आत्मा है और वह इन सब दशाओंसे पवित्र है। और मुखके दर्पणमें आनेकी समान वह प्रकाश वृत्तिरूप होता हुआ, इनको भी प्रकाशित करता है। प्रज्ञान नाम तो वास्तवमें इसीका है, अन्तर्वृत्ति तो इससे प्रकाशित होकर प्रज्ञा कहलाती है; इस लिए यही वास्तवमें प्रज्ञान है।

(४८)—यह अन्तर्वृत्तियें भी इस आत्मप्रकाशसे प्रकाशित होकर इस प्रकार प्रज्ञानरूप होजाती हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्यकी परछाहीं से प्रकाशित होता है। और यह बदलने वाली वृत्तियें बदल कर अनेकरूप और नामोंको धारण करती हैं। और वह इनका आधार इनमें चमकता हुआ ज्योंका त्यों रहता है, बदलता नहीं ह। इसी कारण ज्ञानवान् पुरुष इन वृत्तियोंको गुण और प्रकाशको सत्ता कहते हैं, और विश्वास रखते हैं, कि–गुण बदल जाता हैं, परन्तु सत्ता नहीं बदलती।

(४९)—अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि–वह प्राणात्मा जो इसकी छाया और इसका सेवक है उसकी कुछ सत्ता नहीं है अर्थात् वह कुछ हस्ती नहीं रखता, वास्तवमें सब इस (आत्मा) का ही गुण है और वह प्रकाश जो उस प्राणात्माका आधार है, इन वृत्तियोंमें प्रकाशित है और जिसको आत्मा कहते है, वह सत्ता है और गुणमय आत्मा ब्रह्मा इन्द्र प्रजापति देवता होता हुआ इसीमें स्थिर रहता हैं और इसीके प्रकाशसे प्रकाशित और इसीकी सत्तासे उपलब्ध हो अनेक प्रकारके जगत्के आकारमें दिखाई देता है। इसी लिये श्रुति भगवती भी निर्णय करती है।

(५०)—कि–यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति ह और समस्त देवता तथा पञ्चतत्त्व भी यही है। क्या पृथिवी क्या वायु क्या आकाश क्या जल क्या सूर्य और क्या सब ज्योतिएँ तथा यह सब जानवर पशु पक्षी कीट पतंग आदि यही आत्मा है और यह सब उसकी छाया (गुण) हैं और यही ज्ञानीको सबका गुणी और प्रत्येक गुणमें पुरा हुआ लक्ष्यरूप दिखाई देता है।

(५१)–जो वीर्यसे उत्पन्न होते हैं, जो अण्डोंसे उत्पन्न होते हैं, जो झिल्ली (जरायु) से उत्पन्न होते हैं, जो मैलसे उत्पन्न होते हैं जो पृथ्वीको फोड़ कर निकलते हैं, सबके सब क्या गौ क्या घोड़ा क्या हाथी और चलने वाले उडने वाले, कहे हुए न कहे हुए सब इस प्रज्ञानब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं और प्रज्ञानस्वरूप हैं।

(५२)–जिस प्रकार दर्पण देखने वालेके हाथमें होता है और देखने वाला आप ही उसमें होता है। इसी प्रकार ये सब कल्पित पदार्थ उसीके भरोसे रहते हैं उसीकी सुन्दरता और उसीके दर्पण हैं। इस लिये सब जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञाप्रतिष्ठ है और यह आत्मा ही प्रज्ञानब्रह्म है।

(५३)—इस प्रकार यह ब्राह्मण भी वामदेवकी शिक्षाके अनुसार विचार कर अपनी आत्माको प्रज्ञानरूप जान कर और सर्वरूप मान कर मृत्युके पीछे वामदेवकी समान ज्ञानमें स्थित होगए और सत्काम तथा सत्संकल्प होगए थे और जीवनमें भी उन्होंने अपने दर्शनके आनन्द मुक्तिको पालिया था। अब भी जो इस प्रकार विचार करके इस आत्माको इशारेसे पाजाता है और विश्वास करता है, कि—"मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्वरूप हूँ" वह यहाँ प्रत्यक्षरीति पर अमृत होजाता है और शरीरके दूर होने पर सत्संकल्प आदि ऐश्वर्य उसको मुक्तमें ही मिल जाते हैं। यही उसकी ज्ञानप्राप्तिकी कक्षा है और यही चढ़नेका जीना है, जिसके चित्तमें आवे वह इसमें आजाय, यहाँ किसीकी रोक नहीं है। जो इस जीने पर चढनेसे डरते हैं, वे कुसंस्कारी हैं। कुसंस्कारवश उनके भीतर अज्ञान रहता है अत एव इस जीने पर चढनेसे डरते हैं और सर्वदा अज्ञानमें ग्रस्त रहते हैं।

(५४)—इस कथाका सार यह है, कि–यह एक (केवल) आत्मा कि–जिसके अतिरिक्त दूसरा और कुछ नहीं था, यंत्र और उपादानोंके विना अपनी मायासे जादूगरके अनुपस्थित बातोंको दिखानेकी समान अपनी मायासे जो वस्तु वर्तमान नहीं होती है,उसको दिखता है।इस प्रकार उसने सात लोक प्रजापति और प्रजापतिसे देवता उत्पन्न करके और मनुष्य बना कर उन देवताओंको मनुष्यमें वसाया है, फिर आप भी अपने दर्शनके लिए उसमें आगया है। इस प्रकार वामदेवने अपने पहिले जन्मके भाई विराट्रोंको सुनाया था और वे उसके अनुसार विचार करके अमृत होगए।

(५५)—यहाँ कुछ भाषा जाननें वालोंको यह आश्चर्य होसकता है, कि–"वह आदमीमें आगया" यह बात कैसे ठीक होसकती है? परन्तु उनको आश्चर्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि–इस आत्मामें आश्चर्यकी और भी बहुतसी बाते हैं। उनमें पहिला आश्चर्य तो यह है, कि—यंत्र और उपादानके विना उसने आकाश आदि पञ्चतत्त्वोंको बनाया। और सत्त्वगुणको छाँट कर लोक बनाए और प्रजापतिको बना कर उसके अंगोंसे देवताओंको उत्पन्न किया वह फिर मनुष्यमें आगए। इस बातको कथाके रूपमें समझाना सरल था अतः कह दिया। अन्यथा जिस प्रकार स्वप्नमें देखने वाला पृथ्वी आकाशको रचता है और उसके

भीतर देखने वालेको रचता है और फिर उस शरीरमें ऐसा संबंध मानने लगता है, कि–उस सांकल्पिक शरीरको अपना आपा समझता है, वैसी ही इस उत्पत्तिकी दशा है। अविद्याके गुणोंसे शरीरके साथ आत्माका संबंध है, यह सबको मालूम ही है। यह गूढ़ रहस्य सबकी समझमें आजाय, इस लिए वामदेवने कथाके रूपमें इसका वर्णन किया है

(५६)–यहाँ पर यह तात्पर्य नहीं है, कि–इस कथाकी ओर इस प्रकार दृष्टि की जाय कि—यह बात कब हुई थी, कैसे हुई थी ? परंतु यहाँ पर यह तात्पर्य है, कि—जिस प्रकार कोई आप ही महल बनाकर उसमें बस जाता है, तो आप महलका अंश नहीं होजाता, इसी प्रकार सब संसार मनुष्यके आश्रयसे रहता है और एक खास मकान है, आत्मा उसके भीतर रहता है। जब इस प्रकार सुन कर उसको जानता है तो हृदयके भीतर अस्ति नास्तिके नियमसे उसका प्रत्यक्ष होजाता है, उस समय यह भली भाँति सत्य प्रतीत होता है ।

(५७)–दूसरा तात्पर्य यह है, कि–जिस प्रकार वामदेवने जाना था; कि—"मैं ही सूर्य हूँ मैं ही मनु हूँ और मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का जानना ही वास्तविक दर्शन है। और जो नेत्रोंसे देखना चाहते हैं, वह सब कल्पित और भ्रम है ।

(५८)–इसी कारण व्यासजीने इस कथा पर सूत्र लिखा है, कि– "मैं ब्रह्म हूँ" यह पहिचान वामदेवकी समान शास्त्रीय दृष्टि है (शास्त्र-दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" । हम मनुष्य हैं, पराधीन हैं, यह ईश्वरीय नियम नहीं है, परन्तु अज्ञ पुरुष इसको ईश्वरीय नियम समझ कर डरते हैं और इधर ध्यान नहीं देते, परन्तु यह बात अच्छी नहीं है। यही धर्म यही ज्ञान और यही पहिचान मुक्तिदायिनी प्रसिद्ध हुई है। जो इस प्रकारके ज्ञानको पाता और जप तप करता रहता है, वह मुक्तिके योग्य नहीं होता और जप तपके फल स्वर्ग आदिको ही पाता है और फिर वहाँसे भ्रष्ट होजाता है ।

(५९)–इस कथाको यजुर्वेदके आरण्यक भागमें इस प्रकार लिखा है, कि–सबसे पहिले ब्रह्माजी उत्पन्न हुए उन्होंने अपने आपको इसप्रकार समझा, कि—मैं ब्रह्म हूँ" तब यह सर्वरूप होगए। यह नहीं समझना चाहिये, कि—प्रजापति और देवता ही ऐसा निश्चय कर सकते हैं क्यों

कि—जिन ऋषि मुनि और मनुष्योंने इस आत्माको इस प्रकार देखा है, कि—मैं ब्रह्म हूँ वे सबमें सबकुछ होगए हैं।

(६०)—देखो ! वामदेवने गर्भमें ही देख कर कहा था, कि—मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, और जान कर वह सर्वरूप होगए थे। अब किसी को यह सन्देह नहीं करना चाहिये, पहिले ऋषि मुनियोंमें इस ज्ञानको पानेकी शक्ति थी, हममें नहीं है, क्योंकि—श्रुति कहती है, कि—जो आज कल भी यह विश्वास करता है, कि—"मैं ब्रह्म हूँ" वह सर्वरूप हो जाता है।

(६१)—जो इसके विपरीत विश्वास करता है, कि—"मैं सेवक हूँ, वह स्वामी है" तो श्रुति कहती है, कि—वह आत्माका अपमान करता है, और जो मनुष्य यह विश्वास करता है, कि—"मैं और हूँ वह और है, मैं चाकर हूँ, वह स्वामी है", तो वह कुछ नहीं जानता और देवताओंका पशु है। क्यों कि—जिस प्रकार एक गौ बहुतसे मनुष्योंको दुग्ध देती है, तब वे सब मनुष्य उसकी रक्षा करते हैं और उसको बाँध रखते हैं, कि—वह दूसरेके पास न चली जाय। इसी प्रकार ऐसे विश्वासीको देवता डराते धमकाते रहते हैं और उसकी देखभाल रखते हैं, कि—कहीं वह ज्ञान न पाजाय ! कहीं आत्माको न पहिचान जाय !

(६२)—क्योंकि—जब वह आत्माको पहिचान जायगा तो हमारा स्वामी होजायगा। अब तो हमारा सत्कार करता है, हमको बलि देता है, यज्ञ करता है, परन्तु आत्मज्ञान होजाने पर ऐसा नहीं करेगा। इस लिये देवता उसके मनमें भ्रम डालते हैं, कि—ऐसा विश्वास नहीं ठीक है, ईश्वरीय दावा नहीं करना चाहिये, भक्त बने रहना चाहिये, ईश्वर भक्ति और सेवासे ही प्रसन्न होता है। देखो ! संसारमें राजा भी विनय और सेवासे प्रसन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर भी विनय और सेवासे प्रसन्न होता है। तुम्हारा विश्वास तो ऐसा है, कि—जैसे कोई कहे कि—मैं राजा हूँ "तो क्या उससे राजा प्रसन्न रह सकता है ? वह तो उसको वैरी ही समझता है।

(६३)—फिर श्रुति आप ही कहती है, कि—जिस मनुष्यके पास बहुतसी गौएँ होती हैं, उसकी गौओंमेंसे एक गौ भी चली जाती है तो उसको शेष गौओं पर संतोष नहीं होता और वह उस गौके लिये बेचैन होजाता है, उसकी खोजमें निकलता है और उसको पकड़ लेता

है। तो यह कैसे होसकता है, कि-जो एक विश्वासी बहुतसे देवताओं की सेवा करता है उसको ज्ञानवान् यदि बन्धनसे छुड़ाना चाहें तो देवता उसको सहजमें निकल जाने दें! इस लिए देवता नहीं चाहते कि—कोई ऐसा विश्वास करे कि—मैं ब्रह्म हूँ।

(६४)—देखो! भीरु मनुष्य देवी देवता महादेव गणपति आदिकी पूजा करता है उनको भेंट देता है। इस प्रकार सब देवता उससे आहुति द्वारा भेंट व भोग पाते रहते हैं। वे देवता उसके मनमें प्रविष्ट होकर मुक्तिप्रद ज्ञानसे डराते रहते हैं। इस दशामें ज्ञानवान् पुरुषको उनको समझाना बडा कठिन पड जाता है, क्योंकि—वे तो देवताओंके वशमें पडकर उनके पशु होते हैं।

(६५)—किंतु जब कोई बली मनुष्य वेदोंपर श्रद्धा रखकर ऋषियों के वचनों पर विश्वास करके अपनेको "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा मानने लगता है तो उलटा होजाता है, जो देवता पूजनीय थे वे चाकर होजाते हैं और यह आत्माकी पहिचानसे देवताओंका भी आत्मा बनकर उनका भी स्वामी होजाता है। फिर देवता आदि कोई भी इस ज्ञानमें बाधा नहीं डाल सकते और उसकी सेवा करनेके लिए उनको सेवकोंकी समान उठना पडता है।

(६६)—हे भाइयों! तुम उनकी जितनी २ उपासना करते हो वे तुमको अपना पशु जानते हैं और पशुओंके स्वामीके पशुओंको बाँध रखनेकी समान तुमको बाँध देते हैं। परन्तु तुम अज्ञ हो, रहस्यकी बात तुम्हारी बुद्धिमें नहीं आती। तुम इस श्रुतिके अनुसार बलवान् बनो और इस ज्ञानका अभ्यास करो। फिर देखो क्या विचित्र दशा होती है, नौकर स्वामी होजायगा और स्वामी नौकर होजायगा।

(६७)—हम इस विषयमें अपनी ओरसे एक दृष्टान्त देते हैं, कि-दश मनुष्य परदेशको जाना चाहते थे, उन्होंने दो दो रुपयेका चन्दा डालकर बीस रुपयेसे साझेमें एक टट्टू मोल लिया और उस पर चलने के समय जहाँ तक होसका अपनी २ भारी गठरियें उस पर लाद दीं। उस समय किसीने यह ध्यान नहीं दिया, कि-यह इतने बोझेको उठा सकेगा अथवा नहीं?

(६८)—उस समय एक दूसरेसे कहने लगा, कि—तेरा भार अधिक है निकालले, नहीं ऐसो टट्टू नहीं चल सकेगा, तो वह कहने

लगता था, कि-मैंने क्या कम चन्दा दिया है, मैं तो नहीं निकालूँगा, तुम अपना बोझा उतारलो। जब इस प्रकार वाद विवाद करके किसी ने भी अपना बोझा नहीं उतारा और चाबुक मार मार कर उस टट्टू को चलाने लगे। उस समय वह विचारा टट्टू बड़ी कठिनतासे उस बोझेको उठा कर मञ्जिल पर पहुँचा।

(६९)—मञ्जिल पर पहुँचनेके अनन्तर सबने अपने २ असबाबको तो सम्हाल कर उतार लिया, परन्तु टट्टूके खानेका ध्यान किसीने न रक्खा। श्यामलाल कहने लगा, कि-रामलाल घास लायेगा, मोहनलाल कहने लगा कि-किशनलाल घास लावे, इस प्रकार किसीने भी उसको घास दाना न दिया और उस विचारे टट्टूने रोड़ी पर घूमकर जो कुछ मिला उसको खालिया, प्रातःकाल होने पर सब फिर शेर होगए और किसीने भी अपना बोझा कम नहीं किया।

(७०)-अब विचारिये! रातको तो किसीने चारा तक न दिया और वह भूखा रहा, सवेरे शक्तिसे अधिक भार उठाना पड़ा। अन्तको टट्टूने इस प्रकार दो तीन मञ्जिलें पूरी कीं और मर गया।

(७१)-इसी प्रकार जो बहुतसे देवताओंकी पूजा करता है, वह वास्तवमें बहुतोंका टट्टू होता है। जब जिसका दिन आता है, तो वह अपना भोग नहीं छोड़ता और वह नहीं देता है तो उसको हानि पहुँचाता है। और जब उसका पुत्र बीमार होता है अथवा उसको कुछ इच्छा होती है, तो कोई ध्यान नहीं देता, वे परस्परमें कहते हैं, कि-वह पूरी करेगा, वह पूरी करेगा। इस प्रकार कर्मकाण्डी भाड़ेके टट्टूकी समान मारा जाता है।

(७२)-जब वैदिक कर्मोंसे ऐसी दशा होती है तो भूत प्रेतोंको पूजने वालोंकी न जाने क्या दशा होगी? हम देखते हैं कि-कोई २ पीर पीराँकी ग्यारहवीं देते हैं और सखी सरवरका रोट भी देते हैं और गुरु साहबका कढ़ाई प्रसाद भी कराते हैं, देवीकी भेंट भी देते हैं और जितने यक्ष सिद्ध और मड़ी मसान है, सबके दिन नियत हैं और उनको उन के नियत समय पर भेंट देते हैं।

(७३)-जब किसी वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है तो प्रत्येक देवता का ध्यान धरते हैं और उन सबसे माँगते हैं, कि—हे पीरपीराँ! हे सखी सरवर! हे लालाँ वाले! हे देवी देवता! मेरे पुत्रको नीरोग कर दो

और वे देवता चन्दे वाले टट्टूकी समान उसका कुछ ध्यान नहीं करते लड़का अन्तमें मर भी जाता है। यदि फिर भी उनकी भेंट न दी जाय तो वह फिर आपकड़ते हैं।

(७४)-मैं ऐसे व्यक्तियों पर दुःख प्रकट करता हूँ, कि—वराहियों की तसदीक पर चन्देके टट्टू बन जाते हैं और वेदकी श्रुतियोंके अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा विश्वास नहीं करते। यह अविद्या नहीं है तो और क्या है ? अज्ञान नहीं तो और क्या है ? वेदोंका तात्पर्य यह है, कि—संसारके लोक देवताओंके आश्रयसे रहते हैं और देवता मनुष्यके आश्रित हैं और मनुष्यका वही आत्मा ब्रह्म है जो सबका स्वामी है। इस लिए मनुष्यको अपने सम्बन्धके कारण जिस प्रकार राजा प्रजाका पालन करता है, इस प्रकार यज्ञ आदि निष्काम कर्म करके देवताओंका पालन करना चाहिये और मैं ब्रह्म हूँ, उनका स्वामी सर्वरूप हूँ, ऐसा विश्वास रखना चाहिये।

(७५)-परन्तु इस बातकी उनको कुछ खबर नहीं है और वह मालिक होते हुए भी दास बन जाते हैं और धन दौलत पानेके लिये निरर्थक भेंट चढ़ाते रहते हैं, क्योंकि—जो कुछ प्रारब्धमें होता है, उसको तो देवता भी नहीं बदल सकते, सखी तो कर ही क्या सकता है ? और पीर पीराँसे भी क्या होसकता है ?

(७६)-मेरी बुद्धिके अनुसार मनुष्यको मेरे अगले उदाहरणके दूसरे ब्राह्मणकी समान बनना चाहिये। देखिये ! दो ब्राह्मण तप करने के लिये वनको चले, तहाँ पर शेर भेड़िये आदि मनुष्यका भक्षण करने वाले बहुतसे प्राणी रहते थे। जब वह जप तप करने लगे, तो वे हिंसक प्राणी उनको दुःखित करने लगे।

(७७)-उस समय एक ब्राह्मणने विचार करनेके अनन्तर सब प्राणियों का भोजन एकत्रित किया और जो जानवर आता था उसको उसका सूक्ष्म भोजन देदेता था, परन्तु जो जानवर तहाँसे चला जाता था, वह दूसरे दिन अवश्य आता था और अपनी बिरादरीके दूसरे जानवरोंको भी साथमें लेआता था। क्योंकि-पशुओंका यह स्वभाव होता है, कि—ज़हाँ भोजन मिलता है, तहाँ प्रति दिन नियत समय पर आजाते हैं। इस प्रकार पहिला ब्राह्मण उनसे अपना बचाव न कर सका।

(७८)-दूसरेने विचारा, कि—यदि इनको भोजन दिया जायगा

तो दङ्गा बखेड़ा पड़ जावेगा। इस लिए उसने अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर दी और तप करना आरम्भ कर दिया,तब कोई पशु उस के पास न आया। क्योंकि—पशुओंका यह स्वभाव सर्वत्र प्रसिद्ध है, कि-वह अग्निसे डरते हैं,अत एव वह ब्राह्मण निर्विघ्नतासे तप करने लगा।

(७९)-हे सज्जनो!देवता भी अपने भक्तको ज्ञानका रहस्य समझ में न आने देनके लिये डराते रहते हैं और उसको आत्मज्ञान पानका अवसर नहीं आने देते।परन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे केवल ज्ञानाग्नि को ही प्रज्वलित रखते हैं, उस समय ये सब भाग जाते हैं और किसी को भी यह शक्ति नहीं होती, कि-उसको कुछ दुःख देवे, क्योंकि-वह तो सबका आत्मा होजाता है और ऐसा कौन है जो अपने आत्मा को दुःख देना चाहेगा ?

(८०)-ईश्वर भी एक महाप्राण है और सब देवताओंका नेता है परन्तु यह (ज्ञानी) तो उसका भी आत्मा होता है। तब फिर यह कैसे विश्वास किया जासकता है, कि-मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञानसे ईश्वर क्रोध करेगा और दुःख देगा ? वह कभी दुःख नहीं देसकता, यही उसकी दया है, मिलापमें सबको आनन्द मिलता है। जो इसकी पहिचानसे डराते हैं, वे दुष्ट हैं और विरोचनके शिष्य हैं। उनकी बातको कभी नहीं सुनना चाहिये यह रहस्य ज्ञात हो अथवा न हो,प्रत्येक द्विजन्माको इस बातका अभ्यास करना चाहिये, कि-मैं ब्रह्म हूँ। क्योंकि-सुवर्णको सुवर्ण कहना ही उचित है, सुवर्णको पीतल बतलाना उचित नहीं है। अब ज्ञानियोंकी दृष्टि और वेदकी श्रुतियोंके अनुसार यही बात सत्य है, अतः इसके विरुद्ध कुछ और विश्वास करना असत्य हैं।

(८१)-भाषा जानने वाले यह कह सकते हैं कि-यद्यपि वह सत्य है, तब भी इस ज्ञानमें अहङ्कार प्रतीत होता है, इस लिए यह ज्ञान अच्छा नहीं है। परन्तु उनकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि-गर्व और महत्त्वका रूप अज्ञानको एकसा प्रतीत होता है। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं, कि-गर्व बुरा है और ज्ञान महत्त्व है और गर्व निन्दनीय है तथा महत्त्व प्रशंसनीय है।

(८२)—"मैं ब्रह्म हूँ" इस पहिचानमें आत्माका महत्त्व है, गर्व नहीं है, गर्व तो तब होता है। जब किसी कामको किसी दूसरेने पूरा किया हो और अपने आप झूठ बोले कि-मैंने इस कामको पूर्ण किया

है, उसकी क्या शक्ति थी जो उस कामको पूर्ण करता है" ऐसा विचार बुरा है। अब गर्व और महत्त्वका भेद समझानेके लिए हम एक वैदिक उदाहरण देते हैं।

(८३)—हमने सामवेदकी तवल्कार शाखाके केन उपनिषद्में सुना है, कि—आत्मा कहलाने वाले ब्रह्मने देवताओंको जिता दिया, तब देवता विजयके कारण अहंकारमें भर गए और समझने लगे, कि—यह विजय हमारी है, हम ही थे जो ऐसी विजय पाली, हमारा ही यह काम था, यह हमारा ही महत्त्व था, हम अपनी बड़ाई क्यों न करें? हम तो धन्यवाद पानेके पात्र हैं, अब ऐसा कौन है जो हमारी शक्तिका सामना कर सके ?

(८४)-जब ब्रह्मने उनके अहंकारको देखा तो उसको तोड़नेके लिये संकल्पसे यक्षका रूप धारण करके आगए परन्तु देवताओंने न पहिचाना कि-यह कौन यक्ष है उन्होंने मिल कर अग्निदेवतासे कहा, कि-हे जातवेदः! इसको जानो कि-यह यक्ष कौन है? उसने कहा अच्छा।

(८५)—तब वह उसके पास गया। अभी अग्निदेवताने कुछ नहीं कहा था, कि—यक्ष बोला, कि—तू कौन है ? जो बेधड़क यहाँ आगया? उसने कहा, कि—मैं अग्निदेवता हूँ, और जातवेदा मेरा नाम है, क्या तू मुझे नहीं जानता ? उसने कहा, कि—तुममें क्या गुण हैं और क्या शक्ति है, बतलाओ ? उसने कहा, कि-मैं जो कुछ पृथिवीमें है चाहूँ तो उसको क्षणभरमें जलादूँ।

(८६)—तब ब्रह्मने मुस्कुराकर एक तिनका अग्निके सामने रख दिया और कहा, कि-इसको जलाओ। अग्निने अपनी शक्तिके अनुसार उसको जलाना चाहा परन्तु न जलासका; इस लिये डरा और अपने आपको अशक्त जान कर लौट आया, और देवताओंसे कहा, कि-मैं नहीं जानता; कि-यह यक्ष कौन है ? मैं तो इसके आगे निर्बल और अशक्त प्रतीत होता हूँ।

(८७)-फिर उन्होंने पवनके अधिष्ठात्री देवतासे कहा, कि—हे मातरिश्वा ! तुम इसको पहचानो, कि-यह यक्ष कौन है? उसने कहा, कि-अच्छा और वह उसके पास गया। अभी वायुके अधिष्ठात्री देवताने कुछ नहीं कहा था, कि-यक्ष कहने लगा, कि-तू कौन है ? जो बेधड़क यहाँ आगया ? उसने कहा, कि-मैं वायुका अधिष्ठात्री देवता हूँ और और मेरा नाम मातरिश्वा है। क्या तू मुझे नहीं जानता ?

(८८)-उसने कहा, कि—तुममें क्या गुण है और क्या शक्ति है? उसने उत्तर दिया, कि—मैं जो कुछ पृथिवीमें है चाहूँ तो एक क्षणमें उड़ादूँ, तब यक्षने एक तिनका निकाल कर रख दिया और कहा, कि-इसको उड़ादो ! उसने जहाँ तक शक्ति थी उसे उड़ाना चाहा, परन्तु न उड़सका । इस लिये डरा और अपने आपको असमर्थ जानता हुआ लौट आया और उनसे कहने लगा, कि—मैं नहीं जानसकता, कि—यह कौन है ? मैं तो इसके सामने दुर्बल और अशक्त हूँ ।

(८९)—फिर उन्होंने इन्द्रसे कहा, कि—हे भगवन् ! तुम तो इसे पहचानो कि-यह यक्ष कौन है ? उसने कहा कि—अच्छा । तब वह उसके पास गया, अभी वह नहीं पहुँचा था, कि—यक्ष अन्तर्धान हो गया, क्योंकि—वह उसको अपना मुख दिखाना नहीं चाहता था । इस लिये उस यक्षकी जगह एक स्त्रीकी आकृतिमें खड़ा होगया तब इन्द्रने देखा, कि—अभी तो यहाँ यक्ष दिखाई देता था अब इसी स्थान पर बड़ी शक्तिमती स्त्री उमा (पार्वती) दिखाई देती है जो हम सबकी माता है यह क्या आश्चर्य है !

(९०)—तब इन्द्र कुछ पग आगे बढ़ा और उससे पूछा, कि-हे माता ! यहाँ कौन यक्ष आया था ? उसने कहा बेटा ! यह ब्रह्म था जिसके द्वारा तुम असुरों पर जीत पागए और जिस जीतके कारण तुम अहंकार करते हो । तुम तो क्या बैल भी अपने चरने पर डकारता है । गोरखर भी जङ्गलमें रेंगता है । तुम भी सुरलोक में बक बक करते हो, कि—हमने जीता, हमारा ही यह काम था, क्या तुम नहीं जानते, कि—तुम्हारे बल—तुम्हारी शक्तियें अपनी न [illegible] और सब इसीकी दी हुई हैं ! क्या बुद्धिमान् यदि कोई चीज माँगलाता है तो उसका मालिक होजाता है ? और उसके द्वारा जो कार्य करता है तो क्या उसको अपना किया समझता है ? फिर क्यों तुममें ऐसा अहंकार होगया ? ।

(९१)-उस दिनसे देवताओंने भली भाँति जान लिया, कि—हममें कुछ भी शक्ति नहीं है । और हमारा आधार सर्वशक्तिमान्-सर्वव्यापक, सबका आत्मा और सबसे बड़ा है। वह जिसे चाहे जीत दे जिसे चाहे हरादे। कोई भी नहीं जीतता वही जीत पाता है, कोई भी नहीं हारता वही हारता है, उसीके सब चरित्र और उसीका सब विलास है ।

(९२)—इसी कारण यह तीनों देवता सबदेवताओंसे बड़े माने गए हैं, क्योंकि—सबसे पहले उन्होंने ब्रह्मको देखा, और यही उससे मिले, और इन्होंका गर्व अहंकार पहले टूटा, और वह तीनों अग्नि-देवता वायुदेवता और इन्द्र हैं। उनमेंसे यद्यपि तीनोंने उसको देखा परन्तु वह दोनों तो उसको यक्ष ही जानते हुए लौट आए, किंतु इन्द्रने देखा भी और उमा पार्वतीके द्वारा यह भी जाना, कि—यह ब्रह्म है। इस लिये वह उन दोनोंसे भी बड़े दर्जेवाला माना गया है। यह उसीके देखने और पहचाननेकी बड़ाई है। और आत्मरूप करके जानना जो उसका मेल है उसकी तो अद्भुत महिमा है।

(९३)—फिर उन्होंने उमादेवीसे पूछा, कि—माता! किस प्रकारसे हम उसको सर्वदा देखें और पावें? उसने कहा बेटा! उसका पाना बड़ा कठिन है, यह तो जिस प्रकार बिजली चमकती है उसी प्रकार चमकता है और अन्तर्धान होजाता है, यह जो बादल और बिजलियाँ चमकती हैं उन सबमें यह है; और यह ही उनमें आकर चमकता है, और यह तो तुम्हारे गर्वको तोड़नेके लिये आँखकी झपककी समान शरीरधारी होकर आया था, और क्षण भरमें अन्तर्धान होगया था। यही उसका अधिदेव पद है, परन्तु इस प्रकार उसका देखना वास्तव में उससे मेल नहीं है, मेल दूसरी प्रकारका है। और वह यह है कि-जिस प्रकार वह बाहर सबमें व्यापक है उसी प्रकार वह तुम्हरे भीतर भी व्यापक है।

(९४)—जब तुम अन्तर्मुख होकर उसे अपना आत्मरूप मानकर पहिचानोगे तो मेल पासकोगे। नहीं तो बड़ी भक्ति और बड़े पुण्योंसे अपने भक्तों और जिज्ञासुओंके लिये यह कभी २ बिजलीकी चमककी तरह अथवा आँखकी झपककी तरह शरीरधारी होजाता है। और अन्तर्धान होजाता है यदि मेल चाहो तो अपने भीतरकी मनोवृत्तियोंको देखो। यह जो मनमें संकल्प उठते हैं उनमें साक्षी आत्माका प्रकाश चमकता है। यही उसका अध्यात्मस्वरूप है, जो इसे पहिचानता है और अपना आत्मा जानता है उससे मेल पाजाता है।

(९५)—अधिदेवरूपमें जो मिलता है वह उससे एक नहीं होता है और डर रहता है अध्यात्मरूपमें इससे एक होता हुआ निर्द्वन्द्व (ग़नी) होजाता है और इसकी आधिदैविक विभूतियाँ (शाने) सब

उसीकी होजाती हैं। क्यों सबके भीतर सबका आत्मा वही है इसी कारणसे उसको तद्वत् बोलते हैं, और तद्वत् नामसे उसकी उपासना करनी चाहिये, संस्कृतमें तद्वत् नाम उसका है जो ईश्वरको अपना आत्मा करके भजन करता है, कि–"मैं ब्रह्म हूँ"। और यह गर्व नहीं और उसका महत्व है, वह जो तुमने जीत पानेमें शेखी की गर्व है और यह उसका महत्व है, और यही तद्वत् है। जो उसकी तद् वत् उपासना को जानता है उसको सब (प्राणी या पदार्थ) भूत चाहते हैं और उसी के होजाते है। इस प्रकार उमादेवीने देवताओंको गर्व और महत्व में भेद दिखाया, और कहा, कि–इसी ज्ञानके पानेका उद्योग करो, और उद्योगपूर्वकमें जप तप अच्छे कर्म और वेदोंके पढ़नेका अभ्यास करो। तो तुम्हारे भीतर ही सोच और विचारसे आत्मरूप होकर दिखाई देजावेगा, और उससे मेल पाजाओगे, मैं इसीप्रकार इससे मेल पागई हूँ, और तुम सब इसी कारणसे मेरी विभूतियाँ हो और जो ऐसा जानता है वह अपने पाप दूर करके स्वर्गलोकमें सर्वदा रहता है। इस प्रकार शिक्षा देकर पार्वती भी अन्तर्धान होगई।

(९६)—हे भाइयों ! फिर तो उनका गर्व दूर होगया और उन्हें चेटक लग गई कि—हम उससे कैसे मिलजावें और उसकी दयाको किस प्रकार पावें? उन्होंने पार्वतीकी आज्ञानुसार शम—दम—तप जप करना आरम्भ कर दिया। जप तप करके साधन सम्पन्न हुए तो सत्संगकी सभाएँ करके अपने भीतर उसको खोजने लगे। और यह नियम है, कि–जो ढूँढ़ता है वह पाता है। फिर उन्होंने उसको पालिया और ज्ञानावस्थामें आगए, उन्होंने सभाओंमें जिस प्रकार विचार करके उसको पाया वह भी अब सुनिये।

(९७)–उन्होंने सोचा, कि—किसकी इच्छासे चलाया हुआ यह मन उलटता पलटता है ? और किसकी इच्छासे यह प्रथम उत्पन्न हुआ जेठा प्राण श्वास लेता हुआ भीतर चलता है ? और किसकी इच्छासे यह वाणी बात चीत करती है ? हे भाइयों वह कौन देवता है जो आँख कानको उसमें जोडता है।

(९८)–बहुत देर विचार करनेके अनन्तर उनके सामने आकाश-वाणी हुई, कि—वह कानका कान और मनका भी मन है। और वचन का वचन प्राणका भी प्राण और आँखकी भी आँख है। इस प्रकार जो

उसको जानता है मनुष्यताके बन्धनसे स्वतन्त्र होजाताहै, और यहाँसे जाकर अमृत होजाता है।

(९९)-हे भाइयों! वहाँ न तो आँख जासकती है न वाणी पहुँचती है न मन जासकता है, न हम स्वयं जानते हैं, कि—कैसे उसको सिखलावें। परन्तु जिन्होंने हमें सिखाया है उनसे और ज्ञानियोंसे हम ने इस प्रकार सुना है, कि—वह न तो (मालूम) ज्ञेय है न (मझूल) अज्ञेय है ज्ञेय और अज्ञेयसे श्रेष्ठ और पृथक् है। क्योंकि—जो अनात्म या दूसरे हैं ज्ञेय या अज्ञेय होसकते हैं किंतु वह तो इन दोनोंसे पृथक् विद्यास्वरूप है।

(१००)-यहाँ श्रुतिका तात्पर्य यह है, कि—जो विद्यासे जानने में आजाता है वह तो मालूम होता है और वह जो विद्यासे जाननेमें नहीं आता अज्ञेय (मझूल) होता है, परन्तु स्वयं विद्या न तो विद्या में आसकती है और न विद्यासे बाहर रह सकती है। और स्वयंविद्या है और यह तो नहीं होसकता, कि—आप ही विद्या विद्यामें आजावे या विद्यासे बाहर हो। इस कारण वह ज्ञेय (मालूम) है न अज्ञेय(मझूल) है और (विद्यास्वरूप) आत्मा है। इसीमें प्रकाशित होने पर वस्तुओं का रूप मालूम देती हैं, इसमें दूर होकर बेमालूम होजाती हैं, वह जो मालूम और न मालूम होनेका दर्पण है वही आत्मा है।

(१०१)-जो वाणीसे नहीं कहा जासकता है और जिससे वाणी बोलती है तुम उसे ब्रह्म जानो, जिसकी तुम उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

(१०२)-जो मनसे नहीं सोचा जाता और जिससे मन सोचता है, उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिसकी तुम उपासन करते हो।

(१०३)-जो आँखसे दिखाई नहीं देता और जिससे आँख देखती है उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिसकी तुम उपासना करते हो।

(१०४)-जो कानोंसे नहीं सुनाई देसकता और कान जिससे सुनते हैं उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं है जिसकी तुम उपासना करते हो।

(१०५)-जो नाकसे नहीं सूँघा जाता और नाक जिससे सूँघती है उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं है जिसकी तुम उपासना करते हो।

(१०६)-फिर उन्होंने परीक्षा लेनेके लिये एक दूसरेसे कहा, कि—

इस ज्ञानमें निर्बलता तो नहीं है। पहिलेने कहा, कि--"यदि तू जानता है, कि--मै भलीभाँति जानता हूँ" तो अभी तू नहीं जानता और थोड़ा जानता है। क्योंकि--लिख चुके हैं, कि--वह ज्ञेय अथवा ज्ञात (मालूम) अथवा अज्ञात (मज्हूल) नहीं है, जो कुछ तू जानता है,कि--मेरे भीतर है वह भी थोड़ा है और जो कुछ जानता है, कि--देवताओंके भीतर है वह भी थोड़ा है। अभी तुझे अधिक विचार करना चाहिये।

(१०७)--दूसरेने उत्तर दिया, कि--"न तो मैं कहसकता हूँ, कि-मैं जानता हूँ और न कहसकता हूँ, कि--मैं नहीं जानता हूँ परन्तु वह जो हमारे इस वचनको समझता है, कि--मैं नहीं जानता और जानता हूँ, वही जानता है।"

(१०८)--जिसने कहा, कि--"मैंने जाना" उसने नहां जाना और जिसने कहा "नहीं जाना" उसने जाना। क्यों वह जानते हैं,जो कहते हैं, कि नहीं जाना। और वह नहीं जानते जो कहतेहैं, कि--वह जाना जा सकता है। सत्य तो यह है, कि-प्रत्येक समझके साक्षीको जो जानता है वही अमृत होजाता है, जब कुछ आत्माका बल होता है तो ज्ञानसे अमृत होजाता है। जब तक आत्मबल नहीं होता तो विद्या भी कुछ फल नहीं देती। क्योंकि--सुनने और जाननेके लिये दृढ़ विश्वास का होना आवश्यक है।

(१०९)--यहाँ जीवनमें यदि इस प्रकार जान लिया तो ठीक है,नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो चतुर प्रत्येक वस्तुमें विचार करके उसको जानता है वह यहाँसे जाकर अमृत होजाता है उन्होंने भी यही निश्चय किया, और "हम ही सबमें सब कुछ हैं" ऐसा विश्वास किया। इस प्रकार "मैं ब्रह्म हूँ और सबमें सब कुछ हूँ" यह समझना ज्ञान है अपमान नहीं है महत्त्व है गर्व नहीं है, गर्व तो वही था जो उन्होंने (देवताओंने) अपनी जीत पर किया था, और जिसके कारण आत्मा को शरीरधारी होकर यक्षके रूपमें आना पड़ा था, इस ज्ञानमें तो वही उनका आत्मा होगया और मोक्षका कारण होगया।इसी लिये हे भाइयों! हमने भी गर्वऔर महत्त्वकाअन्तरदिखला दियाकि-जिससे भाषा जानने वाले इस विश्वाससे न हटें।

(११०)--जो बात श्रुति-युक्त और अनुभवसे ठीक हो वह ठीक होती है। यह श्रुति युक्ति और बुद्धिमानोंके अनुभवसे सिद्ध है कि-

"मैं ब्रह्म हूँ" इस ज्ञानसे मुक्ति मिलती है, अब इस प्रकार अविश्वास करना वास्तवमें आत्मा पर अविश्वास करना है जो ईश्वरका अपराध करते है उसको तो क्षमा मिल सकती है, परन्तु वह जो आत्माका अपराध करता है उसको कभी क्षमा नहीं मिल सकती और ऐसे पुरुष को ही आत्महत्यारा अथवा आत्माका अपमान करने वाला कहते हैं ।

(१११)-वेदका मन्त्र आज्ञा देता है, कि-जो अपने आत्माका अपमान करता है, कि-"मैं पापी हूँ" अपराधी सेवक हूँ वह मर कर उन अन्धतम लोकोंमें जाता है, कि-जहाँसे फिर मुक्त होना असम्भव है । स्मृतियोंमें भी आया है; कि-सब पापोंका प्रायश्चित तो शास्त्रने लिखा है, परन्तु आत्माके अपमानका प्रायश्चित कहीं नहीं लिखा है,इस लिये अपने आत्माका अपमान कभी न करो; ज्ञान होने पर तो स्वयं ही यह विश्वास होसकता है, जब ज्ञान न हो तब भी अभ्यास और उपासना के द्वारा यही विश्वास रक्खो और पक्का विश्वास करो, कि-"मैं ब्रह्म हूँ सबमें सब कुछ हूँ और मैं सबमें और सब मुझमें हैं" इसी उपासना के कारण मृत्युमें देवयान सड़क मिलेगी और ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजी उस को आप उपदेश करेंगे।उस समय वह उस उपासनाका ज्ञान भी पावेगा।

(११२)-जो इसकी उपासना करता है यदि कोई उसका पापरूप विघ्न न हो तो उसको यहाँ ही विचार करनेसे और महात्माओंके सत्संकल्पसे ज्ञान होजाता है और वह जीवन्मुक्त होजाता है । और जिसको किसी रुकावटके कारण ज्ञान नहीं होता है तो मृत्युके समय उसके पास यमदूत नहीं आसकते और भग जाते हैं । क्योंकि-यह सिद्ध है कि-यही सबका स्वामी है, परन्तु अपने आपको न जाननेसे संसारी रहता है, परन्तु जब नहीं जानता हुआ भी उसकी उपासना करता है तो बर्सतासा है तो भी उसके पाससे यमराज भागजाते हैं ।

(११३)-जैसे, कि-किसी घरमें चोर घुसे और घर वाला सोता हुआ बर्रा रहा हो, कि-"चोर चोर" तो चोर यह नहीं विश्वास करता, कि-यह जाग रहा है अथवा यों ही बर्रा रहा है और चोर चोर सुनते ही भाग जाता है । इसी प्रकार जो अज्ञ होकर भी "मैं ब्रह्म हूँ" कहता है, तब यमराज यह नहीं विचारता, कि-यह जानकर कह रहा है अथवा बिना जाने कह रहा है और इस ज्ञानको सुनते ही भाग जाता है इसी

लिये यही निश्चित है, कि-इसी पहिचान पर मुक्ति निर्भर है और इसी पहिचानसे ज्ञानमें स्थित होजाता है।

(११४)-हे भाइयों ! बहुतसे पुरुष मैदानमें घोड़े दौड़ाते हैं परन्तु बाजी किसी एकके नाम आती है, सब अखाड़ेमें कुश्ती लड़ते हैं परन्तु पटका कोई एक ही पाता है, परन्तु हरएक घुड़दौड़में शहसवार प्रतीत होता है और हरएक अखाड़ेमें पहलमान प्रतीत होता ह और हरएक अपने २ दर्जेके अनुसार पारितोषिक पाता है।

(११५)-आप भी इस विश्वासके मैदानमें घोड़े दौड़ाएँ और इस अखाड़ेमें लड़ें यदि बाजी मारली तो यहाँ ही पटका आपका है यदि बाजी नहीं मिली तो देवयान सड़क तो यों ही इनाममें मिली हुई है, और स्वयं ब्रह्मा उसको शिक्षा देंगे और प्रत्यक्ष आत्माको दिखलादेंगे, यही वेदोंका सिद्धान्त है। परन्तु धन्य है, कि-हम तो बाजी लेगए और आज कल पटका हमारे नाम है। अब ज्ञानकाण्डमें भाषा जाननें वालोंके लिये हम इतना ही उचित समझते हैं।जो इसको पढ़ता सुनता और विचार करता है तथा विश्वास करता है, वह जीवन्मुक्त होजाता है।

॥ श्रीहरिः ॥

वेदानुवचन

उपासनाकाण्ड

मुक्ति और बन्धनका वृत्तान्त

(१)—वामदेवके उपाख्यानमें कहा है, कि—मनुष्यमें दो ब्रह्म रहते हैं, परन्तु साधारण पुरुषको अपने शरीरमें एकका ही अनुभव होता है, उसमें कर्मबद्ध आत्मा और ज्ञानमय आत्माका वह अन्तर नहीं निकाल सकता, इस कारण वह स्वतन्त्र नहीं होता और कर्मोंके बन्धनमें पड़ा रहता है। अतः उसको कर्मबन्धनसे छुटा कर ज्ञानमें स्थित करनेके लिए और सांसारिक बन्धनसे मुक्त करनेके लिये उपासनाकाण्डका आरम्भ किया जाता है।

(२)—अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि—मनुष्यके भीतर दो आत्मा हैं। एक कर्म करने वाला आत्मा है और दूसरा देखने वाला आत्मा। जो आत्मा कर्म करता है, वह देखता नहीं और जो देखता है वह कर्म नहीं करता, परन्तु कर्म करने वाला ,आत्मा देखने वालेके रूपमें प्रकट होरहा है और देखने वाला कर्म करने वालेके रूपमें प्रकट होरहा है। इस प्रकार आपसमें मिल कर प्रतीत होनेके कारण एक दिखाई देते हैं और इसका देखना और उसका करना भ्रामक कल्पित सम्बन्ध प्रतीत होता है और कर्ता भोक्ता संसारी होरहा है। इसको बन्धन वाला कहते हैं संस्कृतमें इसको सगुण आत्मा कहते हैं।

(३)—जब विवेकके द्वारा उनको भिन्न २ करके समझ लिया जाता है और देखने वाले आत्माको कर्म करने वालेसे अलग जान लिया जाता है, तो उस अपने आत्माको जाननेसे अकर्ता अभोक्ताऔर असंसारी होजाता है।यह देखने वाला आत्मा ही जोअकर्ता है अभोक्ता है और सब गुणोंसे अलिप्त है स्वतन्त्र कहलाता है और इसीको संस्कृत में निर्गुण आत्मा (ब्रह्म) कहते हैं।

(४)—क्योंकि—करने वाला आत्माकी भी इसदेखने वाले आत्मा से अलग और कुछ सत्ता नहीं है और यह उसीकी छायाऔर उसीकी

चमक है, इस लिए वही शुद्ध आत्मा अपनी छायामें मिल कर सगुण कहलाता है और वही आत्मा अपनी छाया और चमकसे अलग होकर निर्गुण ब्रह्म कहलाता है, इस प्रकार वही सगुण है और वही निर्गुण है, वास्तवमें दो नहीं हैं एक हैं। तब भी छायाके कारण कर्ता और भोक्ता प्रतीत होता है और उसके स्वरूपमे यों हीं प्रतीत होता है वह तो वास्तवमें न कर्ता है, न भोक्ता है और द्रष्टामात्र है और अनहुआ तमाशा उसको छायाकी समान दीखता रहता है, जब वह अपने आप को शुद्ध आत्मा और साक्षी जानता है, तब यह तमाशा भी नहीं रहता इसी लिए ये सब मिथ्या कहलाता है।

(५)—देखो! मनुष्य और मनुष्यकी छाया दो नहीं होती हैं, एक ही मनुष्य होता है। परन्तु जब कोई मनुष्यको उपलब्ध करता है, तो यही पहिचान करता है, मैंने इकले मनुष्यको देखा है, यद्यपि छाया भी उसके साथ उसको दीखी थी, परन्तु छायाकी कुछ सत्ता नहीं होती, इस कारण उसको वह कुछ नहीं गिनता। इसी प्रकार वह करने की आत्मा उसकी छाया और चमक है, उसके बिना छाया कुछ असलियत (सत्ता) नहीं रखती। तो भी पहिचानके समय कहा जासकता है, कि—मनुष्यकी छाया मनुष्यसे पृथक् है, इसी प्रकार ज्ञानी भी उस को अलग जानते हैं और मुक्ति इसी पहिचान पर निर्भर है।

(६)—अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि—जिस प्रकार मनुष्य की छाया मनुष्यसे प्रकट होती है और मनुष्य ही उसका प्रकट करने वाला है, इसी प्रकार यह कर्म करने वाला आत्मा भी देखने वाली आत्मामें प्रकट हुआ है और यह देखने वाला आत्मा ही उसको प्रकट करने वाला है; परन्तु कर्म करने वाला आत्मा दर्पणकी समान स्वच्छ भी है, इस कारण फिर देखने वाला आत्मा उसमें इस प्रकार प्रकट होता है, जिस प्रकार दर्पणमें मुख प्रकट होता है, इसप्रकार एकदूसरे में प्रकट होनके कारण वह उसमें और यह इसमें प्रकट हाकर एक होगए हैं, इस कारण उसके धर्म इसमें और इसके धर्म उसमें प्रकट होते हैं।

(७)—दूसरेका दूसरेमें दिखाई देनेका नाम प्रकट होना है दूसरेमें जो कुछ दिखाई देता है, उसको प्रकट कहा करते हैं और जिसमें वह प्रकट होता है उसको प्रकट करने वाला कहा करते हैं, जिस प्रकार

दर्पणमें मुख दीखता है यहाँ पर दर्पण और मुख भिन्न२हैं, अत एव यहाँ पर कहा जायगा, कि-मुख दर्पणमें प्रकट होरहा है और दर्पण उसका प्रकट करने वाला है।

(८)—अथवा जिस प्रकार पानीमें नीलापन दिखाई देता है, तो जल प्रकट करने वाला है और नीलापन उसमें प्रकट है। क्योंकि-जब उसमेंसे थोड़ेसे पानीको हाथमें उठा कर देखते हैं, तो जल श्वेत होता है, नीला नहीं होता। अतः सिद्ध होगया, कि—वावड़ीके जलमें जो नीलापन दीखता है वह अनहुआ दिखाई देता है, इस कारण नीलापन श्वेतत्वकी समान पानीका गुण नहीं है और उसमें इस प्रकार प्रकट होरहा है, जिस प्रकार दर्पणमें मुख प्रकट होता है।

(९)—कभी मनुष्य रस्सीमें सर्पको और सीपमें चाँदीको देखता है और यह सबको विदित है, कि-सर्प वास्तवमें रस्सीका गुण नहीं है और चाँदी सीपका गुण नहीं है।तब भी साँप जो रस्सी नहीं है रस्सीमें और चाँदी जो सीप नहीं है, वह सीपमें दिखाई देती है। तो यह कहा जायगा, कि-सर्प रस्सीमें और चाँदी सीपमें विदित होती है, यहाँ सर्प और चाँदी तो प्रकट हैं और रस्सी तथा सीप प्रकट करने वाली हैं।

(१०)—अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि-प्रकट होना दो प्रकारका होता है (१) प्रकट होने वाली वस्तुका अपने प्रकट करने वालेमें ही दिखाई देना और प्रकट करने वालेसे बाहर न दिखाई देना (२) अथवा उससे बाहर भी दिखाई देना और उसमें भी दिखाई देना। इनमें पहिलेको संकल्प और दूसरेको प्रतिबिम्ब कहा करते हैं। साँपका रस्सीमें और चाँदीका सीपमें प्रकट होना संकल्पमय प्रकट होना है और दर्पणमें मुखका प्रकट होना प्रतिबिम्बरूपमें प्रकट होना हैं

(११)—रस्सीमें सर्प और सीपीमें जो चाँदी दिखाई देती है, वह अपने प्रकट करने वालेसे बाहर नहीं पाई जाती, इस लिये वह सांकल्पक (ख्याली) है और दर्पणमें जो मुख दिखाई देता है, वह दर्पण से अन्यत्र देखने वालेकी गर्दनमें भी दिखाई देता है, इस लिए कह सकते हैं, कि-उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमें दिखाई देता है

(१२)—इन दो भेदोंके अतिरिक्त प्रकट होनेके और भी बहुत भेद हैं। यथा-गुणका ही प्रतिबिम्ब वा संकल्प होना, अथवा गुणवान्का प्रतिबिम्ब वा संकल्प होना और कहीं परस्परका प्रतिबिम्ब वा संकल्प होना।

(१३)—अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि-यदि बिल्लोरके एक स्वच्छ गिलासमें लाल मदिरा भर दी जावे तो गिलासभी लाल दीखने लगेगा। इस उदाहरणमें गिलासमें गुणलाली ही प्रकट होती है, गुण वाली मदिरा प्रकट नहीं होती। क्योंकि-यहाँ पर यह अनुभव होता है गिलास लाल है और यह प्रतीत नहीं होता, कि-गिलास मदिरा है। अतः सिद्ध होता है, कि-मदिरा जो गुण वाली है, वह तो गिलासके भीतर है और उसका गुण गिलास में प्रकट होरहा है और वह दूसरे गुणसे-औपाधिक गुणसे-गुणवाली प्रतीत होरही है।

(१४)—देखो जब श्वेत वस्त्रको हल्दीसे रङ्गकर तयार करते हैं, तो यह कहते हैं, कि-कपड़ा पीला है, उस समय यह नहीं कहते, कि-वस्त्र हल्दी है, अतः सिद्ध होगया, कि-दूसरेको पीलाईसे-पीतत्वसे कपड़ा पीला होजाता है, वास्तवमें पीला नहीं होता, क्योंकि-जब उसको साफ करते हैं, तो वह फिर पीला नहीं रहता, इसका कारण यही है, कि-हल्दीका गुण उसमें प्रकट होरहा था, गुणी प्रकट नह था

(१५)—मृगतृष्णामें कभी २ रेतेका जल दीखने लगता है और जंगलके रेतेमें प्रतीत होने लगता है, कि-यह जल है, परन्तु जलका गुण भिगोना और शीतलता आदि तहाँ नहीं होते और उसके दूसरे गुण भी तहाँ दिखाई नहीं देते। अतः यहाँ रेतेमें जलका प्रकट होना गुणीका प्रकट होना है, गुणका प्रकट होना नहीं है।

(१६)—मनुष्य यह समझता है, कि-मैं बहरा अथवा अन्धा हूँ, परन्तु यह नहीं समझता, कि-मैं कान वा नेत्र हूँ, देखो बहरापन वा कानापन कानोंका और नेत्रोंका अवगुण है। यहाँ पर वह गुणोंको तो अपनेमें प्रकट पाता है और गुणीको अपनेमें प्रकट नहीं पाता, इसलिये यहाँ भी गुण ही प्रकट होरहे हैं गुणी प्रकट नहीं होरहा है।

(१७)—मनुष्य यह भी विश्वास करता है, कि-मैं शरीर हूँ और यह भी कहसकता है, कि-मेरा शरीर है। तो "मैं शरीर हूं" इस पहिचान में गुणी प्रकट होता है। और "मेरा शरीर है" इस पहिचानमें प्रतीत होता है, कि-शरीर उससे भिन्न है और जीवन भर उसकी सवारीके लिये आया है। तथा यह भी विश्वास कर सकता है, कि-"मैं शरीर हूँ" अथवा "शरीरमें हूँ" तो इस प्रकार एक दूसरेमें प्रकट होरहे हैं, क्योंकि-यहाँ आत्मामें शरीर और शरीरमें आत्माका मिलना प्रकट है
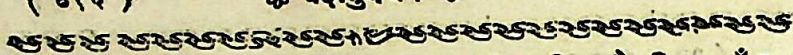
(१८)-इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको उचित है, कि--जहाँ २ जिस २ गुण अथवा गुणीसे प्रकट होना पाया जावे वहाँ २ उसी गुण अथवा गुणीसे प्रकट होनेका नाम नियत करके उसके अनन्त भेदको जान लेय। यथा--सर्प तो रस्सीमें प्रकट होता है और रस्सीकी सत्ता तथा लम्बाई सर्पमें प्रकट होती है, यहाँ पर रस्सीमें गुणी सर्प प्रकट होता है और सर्पमें रस्सीकी सत्ता (हस्ती) प्रकट होती है। इस प्रकार सर्प विना शरीरके दूसरी सत्तासे वर्तमान रहता है।

(१९)-ऊपरके दृष्टान्तमें सर्पका गुण स्वरूप तो संकल्पमय है, परन्तु सत्ता प्रातिबिम्बिक है। क्योंकि--उसका गुण स्वरूप रस्सीके गुण स्वरूपसे भिन्न है और रस्सीमें दिखाई देता है परन्तु रस्सीसे बाहर नहीं मिलता और यह सिद्धान्त निश्चित होगया है, कि--जहाँ दूसरा दूसरेमें दिखाई दे और उससे बाहर न पाया जाय, तो वह प्रकट होना (ख्याली) संकल्पमय होता है। परन्तु संकल्प कोई पदार्थ नहीं है, उसको कुछ सत्ता नहीं है, तो भी रस्सीकी दूसरी (औपाधिक) सत्ता उसमें प्रकट होती है और इससे बाहर रस्सीमें इस प्रकार उपलब्ध होती है जिस प्रकार दर्पणमें देखा हुआ मुख भी अपनी गर्दन पर स्थित मिलता है। इस प्रकार सर्पमें सत्ताका प्रकट होना (अक्सी) प्रातिबिम्बिक है।

(२०)-इसके अतिरिक्त इस संकल्पके सर्पमें अपनी लम्बाई भी नहीं होती है, परन्तु दूसरेकी अर्थात् रस्सीकी लम्बाई उसमें प्रकट होती है। क्योंकि--रस्सी जितनी लम्बी होती है सर्प भी उतना ही लम्बा दिखाई देता है, अतः सिद्ध होगया, कि--रस्सीकी लम्बाई प्रतिबिम्बकी समान सर्पकी लम्बाई दिखाई देती है। इस प्रकार सांकल्पिक (ख्याली) साँप दूसरेके शरीरसे और दूसरेकी लम्बाईसे वर्तमान और लम्बा चौड़ा पाया जाता है।

(२१)-इस प्रकार केवल भाषा जानने वालेको प्रत्येक वस्तुको जाननेका अभ्यासी बनना चाहिये और निश्चय करते समय प्रमाणोंसे जान लेना चाहिये, कि--इसमें कौन २ से गुण अपने है और कौन२ से गुण दूसरेके हैं। जो गुण वस्तुसे किसी कारणसे पृथक् नहीं होते हैं वह वस्तुके अपने गुण होते हैं और जो किसी कारणसे उससे पृथक् होजाते हैं, वह गुण दूसरेके गुण होते हैं। और यह सबके सब दूसरेके

संकल्पमय अथवा प्रातिबिम्बिक गुण जब किसीमें दिखाई देते हैं तब हम इन सबको कल्पित कहते हैं।

(२२)--अब ऊपरके दृष्टान्तमें यह कहा जा सकता है, कि--सर्प तो रस्सीमें कल्पित है और रस्सीकी सत्ता तथा लम्बाई सर्पमें कल्पित है। हमारा मनोरथ यह है, कि--रस्सी सर्पके गुण स्वरूपसे अथवा सर्प रस्सीकी लम्बाई और सत्तासे लिप्त नहीं होता। और जिस प्रकार रस्सी सर्प नहीं होजाती, इसी प्रकार सर्प भी लम्बा चौडा अथवा वर्तमान नहीं होजाता। वास्तवमें जिस प्रकार रस्सी सर्पकी लगावटसे बिलकुल पवित्र है, इसी प्रकार सत्ता और लम्बाई भी उससे पवित्र है, यों ही अनहुई भ्रमकल्पित दिखाई देती है।

(२३)--जब प्रकट (इजहार) और कल्पितकी वास्तविकता विदित होगई तो अब प्रयोजनकी बात यह सिद्ध हुई कि--हमारे अन्दर एक आत्मा है जो देखता भी है और करता भी है, परन्तु हम कहते हैं कि--जो देखता है वह भिन्न है और जो करता है वह भिन्न है क्यों कि--इस समय जो हम जागते हैं तो देखना और करना एकही में पाया जाता है, और नींदमें जब सोजाते हैं तो देखना नहीं होता और करना होता है, देखो श्वाँस चलते रहते हैं, नाडी फडकती रहती है, अन्दर भोजन पचता है, यह सब करनेवाले आत्माके निजी स्वभाव हैं, और देखना उसका निजी धर्म नहीं और दूसरा प्रतिबि-म्बकी समान उसमें भ्रमरूप प्रकट होता है।

(२४)--फिर जब हम जागते हैं तो देखना भी होता है और करना भी होता है, इस लिये निश्चय हुआ कि--करना तो उस आत्मा का अपना कार्य है जिसको नींदमें भी करता था और अब भी बरा-बर काम करता है, किन्तु उसका देखना अपना नहीं है और दूसरा है जो जाग्रत्के समय उसमें कल्पित होता है, फिर इस प्रकार भी विश्वास करते हैं कि--वह जो देखता है नहीं करता और इसके काम उसमें यहाँ कल्पित होते हैं।

(२५)--और देखने वाला आत्मा हमारा अपना आपा है क्यों कि--जब हम सुषुप्तिमें होते हैं तो जानते हैं कि--हम आराममें हैं, करना वास्तवमें दुःख है, और कुछ न करना ही सुख है, और हम नींदमें आरामको देखते और पाते हैं हमारा देखना निजी स्वभाव

उस समय भी दूर नहीं होता, इस कारण विदित हुआ कि-आत्माका देखना ही अपना स्वभाव है।

(२६)-यह संदेह नहीं करना चाहिये कि—सुषुप्तिमें हम आराम को नहीं देखते, क्योंकि-जब हम जागते हैं तो विश्वास करते हैं, कि-हम दूसरोंसे अजान और अपने आराममें थे और विश्वास विना देखे नहीं होता इस लिये निश्चित है, कि-जो बीती बातका विश्वास करता है उस समय उसने उसे देखा है। नहीं तो वह उस समय विश्वास भी न करता।

(२७)-यह बात सत्य है कि-सुषुप्तिमें हम देखते तो हैं किन्तु पहिचानते नहीं, क्योंकि-वहाँ हम अपने मनसे पृथक् होगए थे, और और जब जाग्रत्में मनमें आये तो वहाँके देखनेका ज्ञान पाते हैं, इस बातसे सिद्ध हुआ, कि-ज्ञान आत्माका धर्म नहीं है उसका धर्म देखना है, और पहचान-ज्ञान मनका धर्म है और वह भी इसी करने वाले आत्माका एक भाग है,

(२८)-पहचान भी मनकी एक चेष्टा है जो वास्तवमें कर्ता है, और देखना तो प्रकट होना अथवा प्रकाश है, वह चेष्टा नहीं है, मनमें भी जब यह प्रकाशात्मा आता है तो मन चेष्टाके रूपमें है तो आत्मा उसे भी प्रकट करता और देखता है, नहीं तो इस पहचानकी पहचान हम कैसे कर सकते ? परन्तु इस ज्ञानको भी हमने उसी अपनी दृष्टिसे देखा है, इसी कारणसे फिर पहचानकी पहचान कर सकते हैं।

(२९)-इन बातोंसे विदित होसकता है, कि-आत्माकी दृष्टि न तो जाग्रत्में छिपती है न स्वप्नमें छिपती है और न सुषुप्तिमें छिपती है क्यों सुषुप्तिमें कहते हैं, कि-मैंने कुछ नहीं जाना तो भी अपने आराम और दूसरोंसे बेखबरीकी दृष्टि रखता है और जाग्रत्में उसका ज्ञान पाता हुआ उस ज्ञान पहिचानकी भी दृष्टि रखता है और दूसरी चीजों की भी दृष्टि रखता है और साथ ही उनकी पहचान भी पाता है, और आँखमें आया रूपकी और कानमें आया शब्दकी दृष्टि और पहचान रखता है तो विदित हुआ, कि—पहचान तो मनका धर्म है आत्माका नहीं है, अतः रूपका ग्रहण अथवा शब्दका सुनना आँख और कान का काम है और यह सब आत्मामें कल्पित होने हैं।

(३०)--आत्मा तो क्या जाग्रत्-क्या स्वप्न-क्या सुषुप्ति सबमें देखता रहता है, क्योंकि--जब सुषुप्तिमें सबसे दूर और अज्ञान अथवा अन्धेरा उसके सामने आता है तो उसे भी बिना पहिचानके देखता है, और अपना आनन्द भी उसे प्रत्यक्ष प्राप्त रहता है, क्यों कि--जिस प्रकार दृष्टि उसका अपना आपा है, उसी प्रकार आनन्द भी उसका अपना आपा है, और जब जागता है तो दूसरोंकी पहचानें और दूसरों के ज्ञान उस वास्तविक प्रकृतिमें अधिक आजाती हैं, और उस देखने वालेसे मिल कर वही पहचानें कहलाती हैं, फिर तो देखता और पहचानता हुआ प्रत्येक वस्तुका जानकार कहलाता है।

(३१)--यद्यपि जाग्रत्‌में अपने साक्षित्वके अतिरिक्त दूसरे ज्ञान अथवा चितवन उसमें कल्पित होजाते हैं तब भी उसका अपना देखना और अपने सुख आनन्दका लोप नहीं होता, परन्तु यह अवश्य होता है, कि--उन दूसरी (औपाधिक) पहचानों और चिन्तवनसे जो वास्तवमें मनके कारोबार धर्म हैं दुःख भी उसमें कल्पित होते हैं, और यह प्रकट है, कि--कारोबार ही वास्तवमें दुःख है और उसका आनन्द भी देखनेकी समान अपना आपा है। उससे वह कभी भी पृथक् नहीं होता तो भी इस दुःखमें इस प्रकार मिला हुआ प्रतीत होता है जैसे मिसरी और सिरकेकी बनाई हुई सिकजबीन भी स्वच्छ मिठाई नहीं होती और खट्टी मीठी प्रतीत होती है।

(३२)--फिर जब सुषुप्ति (गर्क नींद) में जाता है तो दूसरे (औपाधिक) दुःख स्वयं ही उससे उतर जाते हैं, वहाँ तो अपने आनन्दको दुःखके बिना पाता है, इसी कारण जागता हुआ कहता है, कि--मैं आराममें था, उसका तात्पर्य यह होता है, कि--वहाँ मुझे कोई दुःख नहीं था जाग्रत्‌में दूसरे (औपाधिक) दुःखोंमें आया हुआ भी अपना वही आनन्द रखता है परन्तु दुःखकी मिलावटसे उसे प्राप्त करता हुआ भी न प्राप्त करता हुआसा होता है जैसे सिकजबीनका चखने वाला मिठाई चखता हुआ भी नहीं चखता।

(३३)--देखो ! जब किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है और वह नहीं मिलती तो मन उसकी इच्छा करता है, और यह इच्छा भी एक मनकी दुःखरूप चेष्टा है, और यह आनन्द जो उसका अपना धर्म है उसमें छिपता जाता है, परंतु जब वह आवश्यकीय वस्तु किसी

कारणसे मिलजाती है तो वह इच्छा दूर होजाती है और वही अपना स्वच्छ आनन्द बिना दुःखके अपने अन्दर पाता है, इसी कारण उस वस्तुका मिल जाना दुःखके दूर होनेका कारण है, एक दुःख दूर होने का ही कारण नहीं है, आनन्दकी पहचानका कारण भी है, और वही ज्ञानवृत्ति अथवा पहिचानकी पहचान कहलाती है,इसीप्रकार मन आनन्दवृत्तिमें अपने स्वच्छ आनन्दको पाता हुआ उस वस्तुके कारण से नई प्रसन्नता मानता है परंतु यह प्रसन्नता नहीं है, एक मनकी वृत्ति है तो भी वह आनन्दके अनुकूल है प्रतिकूल नहीं है।

(३४)—जिस प्रकार सिरका मिसरीके प्रतिकूल है उसी प्रकार (तक़ाज़ा) इच्छा और लोभ भी अपने आनन्दके प्रतिकूल है, किन्तु जिस प्रकार मैदा और घी मिसरीके प्रतिकूल नहीं हैं, और उनसे हलवा बना हुआ मिठास परस्पर एकसा स्वाद देता है, इसी प्रकार मनकी चेष्टा आनन्दवृत्ति भी अपनेआनन्दके प्रतिकूल नहीं रहती तथा अनुकूल रहती है उससे और आत्मानन्दसे बनाई गई आनन्दवृत्ति प्रसन्नता कहलाती है तब भी जिस प्रकारहलुएमें मिसरीका ही मिठास होता है घी और मैदाको मीठापन नहीं होता इसी प्रकार प्रसन्नता में रहने वाला स्वाद आत्मानन्दका स्वाद है औरआनन्दवृत्तिकी चेष्टा घी और मैदाके फीकेपनकी समान फीकी हैं तब भी वह इष्टवस्तुके प्रतिकूल नहीं है किन्तु अनुकूल है।

(३५)—क्योंकि—जिस प्रकार मैदा और घी हलुएमें मिलाने पर मिसरीके मीठेपनको नहीं रोकते हैं इसी प्रकार यह आनन्दकी वृत्ति भी आत्माके वास्तविक आनन्दके प्रकट करनेमें बाधा नहीं डालती किन्तु दर्पणकी समान उसके प्रकाशित करनेमें प्रकट करने वाली होजाती है, और इच्छा तथा लोभकी वृत्तियाँ तो सिरकेकी समान उसके प्रकाशित होनेमें बाधक होती हैं इस प्रकार उसका सर्वदा वर्तमान रहने वाला आनन्द भी प्रकट नहीं होता।

(३६)—अनुकूल और प्रतिकूल भेदसे दो प्रकारसे विषय भोगे जाते हैं। अनुकूल विषयोंको भोगनेके समय आनन्दरूपा वृत्ति उठती हैं और आत्मानन्द उनमें प्रकट होता है तथा प्रतिकूल विषयोंका भोग मिलने पर दुःख शोकरूप वृत्ति उठती है वह उस आनन्दको रोक देती है और उसके प्रकट होनेमें बाधा डालती है इस प्रकार अन्तः-करणकी सब वृत्तियें सुख दुःखरूप भेदसे दो प्रकारकी हैं।

(३७)-परन्तु जिस प्रकार देखना उसका निजीधर्म है इसीप्रकार आनन्द भी उसका निजी धर्म है अपना आपा है और जिस प्रकार पहचान और ध्यानरूप मनकी वृत्तियें उसमें कल्पित हैं इसी प्रकार सुख दुःखरूप दूसरी (औपाधिक) वृत्तियें भी उसमें कल्पित हैं और यह सब उस आत्माके ही भेद है।

(३८)-जिस प्रकार ऊपर कहा है उस तरह अनुकूल विषयोंके मिलनेपर आनन्द और प्रसन्नताकी वृत्ति प्रकट होती है तब भी जिस प्रकार हलुआ शुद्ध (बिलकुल) मीठा नहीं होता और उसमें मैदा और घीका फीकापन मिला होता है इसी प्रकार इसमें दुःखरूप मन की चेष्टा मिली हुई रहती है और यह चेष्टा करने वाले आत्माके कार्य-व्यवहार हैं तथा औपाधिक हैं अपने नहीं हैं दूसरेके हैं अतः ऐसे नहीं हैं जो दूर न होसकें और यह बात सिद्ध है, कि-दूसरेकी वस्तु अपने पास सर्वदा नहीं रहसकती कभी न कभी निकल ही जाती है इस कारण यह वृत्तियें भी उसमें सर्वदा नहीं रहतीं।

(३९)-जिन विषयोंके मिलनेसे यह सुख दुःरूप चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं वे उन विषयों तक ही रहती हैं यदि भोगोंके कारणसे विषय दूर नहीं होते तब भी उनका शौक चला ही जाता है और उन भोगोंके रहने पर भी यह प्रसन्नता और आनन्दकी वृत्ति दूर होजाती है और उन विषयोंकी रक्षा करनेमें बड़ा कष्ट होने लगता है इस लिये यह सब विषय अनित्य और तुच्छ हैं।और दूर होना मनकी इन मनोवृत्तिरूप चेष्टाओंका धर्म है जो आत्मानन्द उनमें प्रकट होता है वह यद्यपि दूर नहीं होता है तथापि प्रकट नहीं रहता ढक जाता है इस लिये मनुष्य विचारतो है, कि-मेरा आनन्द जाता रहा।

(४०)-जिस प्रकार कि-दर्पणमें कोई अपने मुखको देखे और दर्पणके हटजानेसे उसको अपना मुख न दीखे और कहने लगे कि-मेरा मुख नहीं रहा परन्तु उसका मुख तो वर्तमान रहता है कभी दूर नहीं होता है और दर्पणके बिना नहीं दीखता है इसी प्रकार प्रसन्नता और आनन्दकी वृत्ति जो करनेवाले आत्माकी चेष्टाएँ हैं वह दर्पणकी समान हैं और आत्मानन्द उनमें प्रकट होता है जब यह वृत्तियें हट जाती हैं तब वह आनन्द नहीं दीखता उस समय मनुष्य समझता है, कि-मेरा आनन्द जाता रहा, यद्यपि उसका आनन्द अपना धर्म है,

अपना शरीर है तथापि वह आनन्दको पाता हुआ भी न पाता हुआ सा होता है।

(४१)-परन्तु ज्ञानवान् मनुष्य उसको न पाने पर भी पाता रहता है क्योंकि-चतुर पुरुष जानता है, कि-जैसे दर्पणके दूर होनेपर भी मेरा मुख दूर नहीं होजाता-नष्ट नहीं होजाता,ऐसे ही इन वृत्तियों के दूर होने पर भी अपना स्वरूप मेरा आनन्द भी नष्ट नहीं होता है। यह अवश्य है, कि--वह उस समय प्रकट नहीं रहता है तब भी उसको यदि प्रकट करनेकी आवश्यकता हो तो वह विषयोंके अतिरिक्त और प्रकारसे भी प्रकट होसकता है। यथा-विषयवासनाको विषयोंके दोष दिखाकर दूर कर दिया जाय। जिस प्रकार संन्यासीकी वासना किसी विषयकी ओर नहीं जाती और वह भिक्षासे ही भोजन करके गुजर करलेता है और विषयोंके मिलने या न मिलनेसे सुख दुःख नहीं पाता है और एकान्तमें नेत्रोंको बन्द करके उन सब मनोवृत्तियों को रोकता है।

(४२)-जब अभ्यास करनेसे उसकी मनोवृत्तियाँ रुकजाती हैं और किसी पहिचान ध्यान अथवा सुख दुःखरूप वृत्तियोंमें भी मन नहीं जाता है तब स्वयं मन भी स्वच्छ दर्पणके समान होजाता है और (अपना आनन्द) आत्मानन्द उसमें प्रकट होने लगता है और अपना द्रष्टापन भी उसमें प्रकट होजाता है, उस समय स्वच्छ आनन्द प्रत्यक्ष प्रकट होजाता है इसीको परमानन्द कहते हैं और इसीको, समाधि कहते हैं।

(४३)-विषयोंके मिलने पर तो बिजलीके चमकनेकी समान आनन्द और प्रसन्नाकी वृत्तियें प्रकट होती हैं और बिजलीके चमकने की समान आनन्द प्रकट होता है परन्तु समाधिमें विषयरहित मन जब निश्चल होता है तब उसमें इस प्रकार यह आनन्द प्रकट होता है जिस प्रकार ऊपर तक जलसे भरे हुए टपमें जब जल स्थिर होकर होकर स्वच्छ होता है तब सूर्य पूर्णरूपसे उसमें दिखाई देता है। विषयोंके भोगोंमें तो क्षणभरको ही आनन्द मिलता था। परन्तु यहाँ पर तो वह जब तक मनको रोके रखता है तब तक आनन्दको पाता रहता है, विषय भोगोंमें तो उसको इस प्रकार पूर्ण आनन्द नहीं मिलता था जिस प्रकार लहरोंवाले अस्थिर जलमें सूर्य पूर्ण और साफ

दिखाई नहीं देता है और नेत्रको उसकी झलक ही दिखाई देती है। और यहाँ निश्चल जलकी समान निश्चल मनमें वह बहुत देर तक पूर्णरूपमें दीखता रहता है।

(४४)-और विषयोंकी प्राप्ति तो उसके अधीन नहीं होती किंतु प्रारब्धके अधीन होती है परन्तु मनका रोकना तो अपने अधीन है, जब चाहे तब उसको रोक लो परन्तु विषयोंकी खोजमें तो अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं कष्ट सहने पड़ते हैं फिर भी सर्वदा विषय नहीं मिलते और मनको रोकने वाला तो कुछ चेष्टा नहीं करता तब भी उस आनन्दको सरलतासे पाता रहता है।

(४५)—विषय तो अनेक प्रकारके हैं और उनके कारणसे उनके प्रकारकी दूसरी (औपाधिक) चेष्टाएँ आत्मामें प्रतीत होती हैं और उनके धर्मोंसे मिलाहुआ यह आनन्द भी अनेक प्रकारका प्रतीत होता है देखो ! खानेका आनन्द और प्रकारका होता है पहिरनेका आनंद दूसरीप्रकारका होता है और स्त्रियोंका आनन्द दूसरी प्रकारका होता है। इनके उदाहरण यह हैं जलेबीका स्वाद और होता है लड्डूका स्वाद और होता है शक्करपारेका स्वाद और होता है परन्तु बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं, कि-एक ही मिसरी जलेबी लड्डू और शक्करपारेमें पड़कर भिन्न २ स्वाद देती है।

(४६)-इस प्रकार यह (अपना आनन्द) आत्मानन्द खाने पहिरने और स्त्रियोंमें भिन्न २ प्रकारका प्रतीत होता है किन्तु जिस को स्वच्छ मिसरी मिलजाती है वह सबका स्वाद चखलेता है इसी प्रकार समाधिमें जो मनुष्य विषयरहित स्वच्छ आनन्दका अनुभव करता है उसको सब आनन्द मुफ्तमें ही मिलजाते हैं।

(४७)-अज्ञानी जानता है, कि-खानेका आनन्द खानेमें है, पहिरने का आनन्द पहिरनेमें है, और स्त्रियोंका आनन्द स्त्रियोंमें है परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि-यह सब विषय किसी कारणसे उस करने वाले आत्माकी चेष्टाको कारण होते हैं, और जब उनसे यह चेष्टाएँ भीतर होती हैं तो यही अपना आनन्द उनमें टपकता है, अज्ञान जानता है, कि-खाने अथवा पहिरने या स्त्रीसे आनन्द प्राप्त हुआ, यह उनका आनन्द है।

(४८)-परन्तु सूक्ष्म विचारसे जान सकता है, कि-जब प्यास

न हो तो पानी अच्छा नहीं लगता, भूख न हो तो खाना आनन्द नहीं देता, कामदेव न हो तो स्त्री अच्छी नहीं लगती और जब बुखार होता है तो अच्छे भोजन कड़वे लगते हैं और स्त्रियोंके नाज़ नखरे बुरे लगते हैं, नपुंसक मनुष्य स्त्रीसे आनन्द नहीं पाता अतः विदित हुआ कि-न तो खानेमें न वस्त्रोंमें और न स्त्रियोंमें आनन्द है, आनंद तो अपने आपमें है, यह सब किसी मुख्य कारणसे उन वृत्तियोंकी चेष्टाके कारण है, जब वह वृत्तियाँ उठती हैं तो अपना आनन्द उनमें प्रकट हुआ भिन्न २ प्रकारका आनन्द होजाता है।

(४९)-विचारनेसे सिद्ध होता है, कि-जब वीर्यका जोर होता है और युवावस्थामें आरोग्य होता है तो वीर्यनालीमें एक दगदगा होता है जिससे वह निकले और यह दगदगा उसी प्रकारको दरद या दुःख है जैसे गर्भवती स्त्रीको भी जननेके समय होता है, क्योंकि-हम लिख चुके हैं कि-बच्चा वीर्यरूप होकर पहिले बापमें गर्भ होता है और माँके पेटमें सींचा हुआ पहिला जन्म पाता है और स्त्रीमें बोया जाता है तो प्रकट है कि-जिस प्रकार स्त्रीका गर्भ निकलनेकी चेष्टा करता है और उसे दुःख देता है और उसके लिये दाईकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनुष्यमें भी जब वह जन्म चाहता है तो उसकी वीर्यनालीमें दगदगा करता है, और उस स्त्रीकी इच्छा करता है जो उसे पूरा करसकती है।

(५०)-किन्तु स्त्रीके गर्भमें इस इच्छाको पुरुषाभिलाषा कहते हैं, और मनुष्यमें इसीको कामदेव कहते हैं, वास्तवमें यह दुःख एक ही प्रकारका है, फिर स्त्रियोंमें भी रजोधर्मके बाद उसको पानेकी इसीप्रकार इच्छा होती है जैसा कि-भूखके समय खाना खानेकी इच्छा होती है और इस इच्छाको भी कामदेव कहते हैं, और वह स्त्री भी इस इच्छाके दूर करनेके कारण मनुष्यको चाहती है।

(५१)-जब कभी ऐसी इच्छा वालोंका मेल होता है और कोई रोकका कारण नहीं होता तो दोनों अपनी २ इच्छाको पूरी करनेके लिए इकट्ठे होजाते हैं, वह तो उसकी इच्छाको और यह इसकी इच्छाको पूरा करते हैं, और यह इच्छा ही दुःखरूप थी, इस प्रकार जब दोनोंकी इच्छा पूरी होती है तो दुःख रूप वृत्तितो शान्त होजाती है और उस शान्त वृत्तिमें वही अपना आनन्द सर्वदा प्रकट होता है,

परन्तु अनजान उसे अपना आनन्द नहीं जानते, और मनुष्य तो अपने आनन्दको अपनी शांति वृत्तिमें पाता हुआ स्त्रीका आनन्द समझता है, और स्त्री अपने आनन्दको अपनी शांत वृत्तिमें पाती हुई मनुष्य का आनन्द मानती है, परन्तु यह भ्रम है।

(५२)—क्योंकि-स्त्री जो आनन्द पाती है अपना पाती है परंतु मनुष्य तो उसकी इच्छाकी शांतिका कारण है, वैसे ही मनुष्य जो आनन्द पाता है वह अपना ही आनंद पाता है, स्त्री तो उसकी इच्छाके पूरा करनेके लिये उसकी शांतिका कारण है, यह कैसे होसकता है कि-मनुष्यका आनन्द स्त्रीसे अथवा स्त्रीका आनन्द मनुष्यसे मेल पावे? किन्तु जब वह एक दूसरेको शांतिके सहायक होते हैं तो विदित होता है कि-मनुष्यको स्त्रीसे और स्त्रीको मनुष्यसे आनन्द मिलता है, परन्तु इसका अर्थ यह है, कि-स्त्री मनुष्यके और मनुष्य स्त्रीके अपने२ आनन्दके प्रकट होनेमें सहायक हैं।

(५३)-देखो, जब स्त्रीको इच्छा नहीं होती, और मनुष्य उसे पकड़ता है तो वह भागजाती है, और मनुष्यकी भी जब इच्छा नहीं होती तो स्त्री कैसा ही हास्यविलास करे कुछ ध्यान नहीं करता क्योंकि-उस समय दूसरे कारणसे उसे शान्ति है और अपना आराम उनमें टपकता है, हम पशुओंकी ओर देखते हैं तो उनमें भी यही बात पाई जाती है, तो विदित हुआ कि-विषयोंके आनन्दमें दरद और दुःख पहिले होते हैं और उन्हींके दूर करनेके लिये विषयकी आवश्यकता है, जब वह दूर होते हैं तो अपनी २ शान्त वृत्तियें अपने ही आनन्द की झलक प्रतीत होती हैं, विषयोंमें कुछ भी आनंद नहीं है।

(५४)-क्योंकि-जब तक यह भूख प्यासरूप दरदोंमें नहीं फँसता है तब तक खान पानकी वस्तुओंसे आनन्द नहीं पाता है, और जब तक स्त्रीका गर्भ भी वीर्यरूप भोजनका भूखा नहीं होता है तब तक वह भी मनुष्यसे आनन्द नहीं पाती और मनुष्य भी जबतक अपनी वीर्यनालीमें दगदगेके दर्दमें नहीं फँसता है तब तक स्त्रीसे आनंद नहीं पाता है, इस कारण सिद्ध होता है कि—विषयोंका आनन्द स्वच्छ नहीं है और दर्द और दुःखसे मिला हुआ है, जो कोई उनमें आनन्द ढूँढता है साथ ही दर्द, और दुःखको ढूँढता है।

(५५)-और भी बहुतसे कारण हैं कि-जिनसे ढ सिद्धहोसकता

है, कि-उसके आदि और अंतमें बड़े २ दुःख और दर्द हैं, क्योंकि-खाने पीनेकी वस्तुओंसे जो आनन्द होता है उसके आदिमें तो भूख और प्यास रूप दुःख हैं और अंतमें कमजोरी-बदहज्मी है, और इसीप्रकार स्त्री पुरुषके इकट्ठे होनेमें भी पहिले इच्छा और वीर्यका दगदगा और अंतमें स्त्रीको गर्भके दुःख और मनुष्यको निर्बलता है, और इसके अतिरिक्त धर्मविरुद्ध हो तो लोक और परलोकके पाप होते हैं जिसमें संसार और परलोककी सजायें मिलती हैं, इस कारण चतुर उसे विषयोंसे नहीं और दूसरे प्रकारसे जो अपने वश में है और शास्त्रीय है उससे चाहने और पाते हैं इन विषयोंमें दोष देखते हुए इनका ध्यान नहीं करते।

(५६)-यदि कोई भाषा जानने वाला बूझे, कि-यह आनन्द विषयोंके अतिरिक्त और किसी प्रकारसे कैसे प्राप्त होसकता है ? तो हम कहते हैं कि-यह आवश्यक नहीं है कि-स्त्रीके संयोगसे ही मनुष्यको वह भोगका आनन्द आवे, इस लिए वह आनन्द वास्तवमें स्त्रीका नहीं है, परन्तु अपना है और उसी शान्तवृत्तिकी उसके लिए प्रत्येकरीति से आवश्यकता है, देखो ! युवा पुरुष जब तरुणी स्त्रीकी इच्छा करता है और उसको वह नहीं मिलती तो स्वप्नमें कल्पित (ख्याली) स्त्री से वर्ताव करके उसी शान्तिको पाता है यद्यपि तहाँ स्त्री नहीं होती अपना विचार ही-संकल्प ही-होता है तथापि वह आनन्द पाता है और उसका वीर्य स्खलित होजाता है, अतः अब यह कैसे मान लिया जाय कि-स्त्रीके बिना हम उस आनन्दको नहीं पाते हैं।

(५७)-और ध्यान देकर विचार किया जाय, कि-तो तहाँ पहिले वीर्यका दगदगारूप कष्ट होता है और उसको शान्त करनेके लिए जब स्त्रीसे प्रसंग करने लगता है तो इच्छाके कारण उसका मन स्थिर होजाता है और यहाँ तक स्थिर होजाता है, कि-उसको उस समय कुछ नहीं सूझता एक अँधेरीसी आजाती है, उससे सब वृत्तियें रुक जातीं हैं और जब वीर्य निकल जाता है, तो फिर निर्बल होजाता है और स्त्रीको नहीं चाहता। अतः सिद्ध होगया कि-वीर्यके दगदगे और निकलनेमें भी कुछ आनन्द नहीं है, किन्तु कष्ट और निर्बलता मिलती है।

(५८)-परन्तु भोगके समय जो आनन्द मिलता है उसकी भी

खोज करनी चाहिये, उसका विचार करने पर उसकी असलियतको ढूँढने पर श्रुतियोंसे पता चलता है, कि-वास्तवमें भोगमें कुछ आनन्द नहीं है, भोग तो एक नैसर्गिक बात है उससे मनकी दूसरी वृत्तियें उस अँधेरीमें रुक जाती हैं और मनकी स्थिरताके कारण मन पूर्णरीति से इस प्रकार रुक जाता है, जिस प्रकार योगीका मन योगमें पूर्णरूप से रुक जाता है और उपरोक्त अपना आनन्द उसमें पूर्ण रीतिसे प्रकट होता है।

(५९)-इस प्रकार मनकी स्थिरताके कारण (चाहें वह स्थिरता प्राकृतिक भोगसे हो अथवा योगके कारण अपनी इच्छा से हो) योगी और भोगी इन दोनोंकी चित्तवृत्तियें एकसी रुक जाती हैं, मन किसी विषयकी ओर नहीं दौड़ता है और स्थिर हुए मनमें आत्माका पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ता है, इस प्रकार भोगी इस आनन्दको भोगमें और योगी इस आनन्दको योगमें पाजाता है। भोगीको जो आनन्द स्त्रीसे भोग करनेमें मिलता है, योगी उस ही आनन्दको स्त्रीके बिना ही योग में पा जाता है।

(६०)-भोगीको तो कष्टसे मिली हुई निर्बलता भी मिलती है, परन्तु योगी तो न पहिले वीर्यका दगदगा-रूप कष्ट पाता है और न अन्तमें निर्बलता भोगता है, किन्तु स्वच्छ आनन्दको पाता है। और भोगी तो तब तक ही आनन्द पाता है, जब तक उसका वीर्य नहीं निकलता है, और वीर्यका स्थिर रहना-न निकलना-उसके अधीन नहीं है, किंतु शक्तिके ऊपर निर्भर है और योगीका योग उसकी इच्छाके अधीन रहता है। बस यही भेद है, कि-भोगमें यह स्वाधीनता नहीं होती, कि—उस आनन्दको जिस समय तक चाहे उस समय तक पाता रहे, अतः स्वाधीनता न होनेसे वह अपूर्ण है, पूर्ण नहीं है। अत एव भोगीका भोग अपूर्ण और योगीका योग पूर्ण है।

(६१)-यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि-भोगीको भोग के अनन्तर भी आनन्द मिलता होगा ? क्योंकि—हम युवा पुरुषोंको देखते हैं, कि-वह हकीमोंसे रुकावटके नुसखे माँगते हैं और यह सिद्ध करते हैं, कि-भोग तक ही आनन्द रहता है। वह चाहते हैं, कि-अधिक समय तक आनन्द रहे, परन्तु ऐसा नहीं होसकता।

(६२)-क्या रुकावटकी इच्छा करने वाले पुरुष ऊँट आदि पशुओं

की बराबरी करना चाहते हैं ? हे भाइयों ! भोग तो वास्तवमें पशुओं का धर्म है, मनुष्योंका धर्म नहीं है। जो जिसका स्वभाव होता है, जो जिसका धर्म होता है वह उसीमें पूर्ण होता है।पशुको तो योगका अधिकार नहीं है, इस लिए प्रकृतिने उसको भोगनेकी पूर्ण शक्ति दी है। तुमको तो उस योगमार्गका अधिकार मिला हुआ है, कि-जिससे पूर्णानन्द मिलसकता है और भोगका सूक्ष्म अधिकार तो पितृ-ऋणके चुकानेके लिए मिला है, जिससे, कि—तुम धर्मपूर्वक वंशको भी बढ़ा सको और योगके द्वारा जहाँ तक हो स्वच्छ आनन्द पा सको, उस आनन्दको जो नहीं पाते वे भोगमें ही लिप्त रहने वाले पुरुष पशुओंकी समान हैं। उनको मनुष्यशरीरसे क्या लाभ ? वह देखनेमें तो मनुष्य होते हैं और उनके धर्म कर्म पशुओंकी समान होते हैं।

(६३)-स्त्रीके भोग और योगीके योगमें एकसा आनन्द है और योगी उससे श्रेष्ठ है इसका एक और प्रमाण भी है, क्योंकि—हम कह चुके हैं, कि—स्त्रीके भोगमें कामदेवकी शक्तिसे एकाग्रता और अँधेरी के कारण जितनी अधिक वेखबरी होती है, उतना ही अधिक आनंद आता है। देखो ! शराबी शराब पीकर नशेमें भोग करता हुआ अधिक आनन्द पाता है तो इसका यह कारण है, कि-शराब भी एक अँधेरी लाती है और (बेखबरी) वेहोश कर देती है, इसीको नशा कहते हैं और कामदेव भी भोगमें अँधेरी लाता है और नशा उसको डबल करता है और अधिक वेखबरी होजाती है,इसी कारणभोगमें अधिक आनंद आता है। अतः सिद्ध हुआ, कि-वेखबरी जितनी अधिक होती है, आनन्द भी उतना ही अधिक होता है, और मनके निरोधका नाम ही वेखबरी है, अतः सिद्ध होता है, कि—मनका निरोध जितना अधिक होता है उतना ही अपने आनन्दका प्रतिबिम्ब पूरा २ पड़ता है, यही मनका निरोध योग और भोगमें होता है।

(६४)—मैं सत्य कहता हूँ, कि—शराब भी कुछ नहीं करती केवल प्राणोंको रोकती है और प्राणोंके रुकनेसे मनोवृत्तियें भी रुक जाती हैं, इसीको नशा कहते हैं। शराबी जितना अधिक नशा करते हैं, मन उतना ही अधिक रुकता चला जाता है, यहाँ तक कि-जब वह वेहोश होजाते हैं, तब उनको अपने शरीर तककी भी खबर नहीं रहती और हम सुनते हैं, कि—शराब पीनेके समय जब तक मनुष्य

बेहोश नहीं होजाते, तब तक प्याले पर प्याला माँगते जाते हैं अतः प्रतीत होता है, कि–ज्यों २ बेखबरी होती है त्यों २ वह अधिक आनंद को पाते जाते हैं, अतः ये लोग भी यदि मनका निरोध नहीं चाहते तो और क्या चाहते हैं ? और मनके निरोधमें पूर्ण आनन्द नहीं मिलता तो और किसमें मिलता है ? और यह स्पष्ट है, कि–जैसे योगमें मन रुकता है वैसा शराब और स्त्रीके भोगमें नहीं रुकता और शराब तथा भोगमें तो मन रुकता है, परन्तु गदला रहता है, स्वच्छ नहीं रहता और योगमें तो सत्त्वगुणसे स्वच्छ जलकी समान होजाता है।

(६५)–स्वच्छ जलमें सूर्यका जैसा प्रतिबिम्ब पडता है वैसा गदले जलमें नहीं पड सकता। शराब और भोगमें रजोगुण और तमोगुणकी मिलावट नहीं रहती है। योगमें केवल सत्त्वगुण रहता है। इसकारण स्त्री और शराबका भोग जिस आनन्दको देता है वह आनन्द मैला और गदला है और योग स्वच्छ है इस कारण यद्यपि भोगोंमें आनंद है, तथापि योगमें परमानन्द है, और वह अपना रूप है, वह स्थिर और स्वच्छ मनमें ही प्रकट होता है। चाहें विषयोंके द्वारा प्रकट हो अथवा योगके द्वारा प्रकट हो स्थिर चित्तमें ही प्रकट होता है।

(६६)—इस कारण प्रतीत होता है, विषयोंमें भी इसी परमानंद की बूँदे टपकती रहती हैं, जो किसी न किसी कारणसे उनके भोगों में भोगी जाती हैं और अज्ञ पुरुष इन विन्दुओं पर इस प्रकार अपनी जान खोदेते हैं जिस प्रकार कुत्ते हड्डियों पर अपनी जान खोदेते हैं, किन्तु योगी इस परमानन्दको मुफ्तमें पाते हैं। न तो उनको इसमें कोई झगडा करना पड़ता है और न दुःख उठाना पड़ता है और न कुछ पराधीनता भुगतनी पड़ती है। इस कारण शास्त्र मनुष्योंको विषयोंकी ओर जानेसे रोकता है और परमानन्दकी ओर प्रेरित करता है, क्योंकि–मनुष्यमें उसको पानेकी बुद्धि है, परन्तु पशुओंमें इस आनन्दको पानेका कोई मार्ग नहीं है, अतः वह तो इन ही बूँदों को पाकर जीवित रहते हैं, इसी लिये उनको दुःख नहीं होता।

(६७)-अब सिद्ध होगया, कि–जिस प्रकार देखने वाले आत्मा का देखना अपना नैसर्गिक धर्म है, इसी प्रकार परमानन्द भी उसका स्वाभाविक धर्म है और सुखदुःख रूप दूसरी वस्तुके गुण इस प्रकार उसमें कल्पित हैं, जिस प्रकार रस्सीमें सर्प कल्पित होता है, परन्तु

उनमें भी उनकी सत्ता और आनन्द इसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार रस्सीको सत्ता सर्पमें कल्पित होती है अथवा मुख दर्पणमें प्रकट होता है, किन्तु सत्ता तो क्या दुःख क्या सुख सबमें प्रकट है और आनन्द सुखरूप वृत्तियोंमें ही प्रकट होता है, दुःखरूप वृत्तियोंमें प्रकट नहीं होता। इसी लिए अज्ञ पुरुष सुखरूप वृत्तियोंको तो चाहता है और दुःखरूप वृत्तियोंसे भागता है।

(६८)-भाषा जानने वाले अनुभवसे जान सकते हैं, कि-उसकी सत्तासे उन वृत्तियोंका अस्तित्व इस प्रकार उपलब्ध होता है जिस प्रकार रस्सीकी सत्तासे सर्पकी उपलब्धि होती है, क्योंकि-यदि रस्सी न हो तो सर्प भी उपलब्ध नहीं होसकता किन्तु यह बात नहीं है, कि—सर्प न हो तो रस्सी भी न हो। इस लिए प्रतीत होता है, कि—सर्पकी सत्ता अपनी नहीं है और दूसरी वस्तु रस्सीको सत्ता उसमें दिखाई देती है।

(६९)-यही दशा यहाँ है, क्योंकि-जब हम सुषुप्तिमें आते हैं तो यह आत्मा मनसे निकल कर हृदयाकाशमें आनन्द पाता है और यह सब वृत्ति तथा मन भी फिर नहीं रहते, यदि वह (आत्मा) होता तो अपने काम करता, परन्तु तहाँ (सुषुप्तिमें) तो न सुख दुःखरूप वृत्तियें रहती हैं और न उनका ध्यान व पहिचान ही रहती है और न इन्द्रियें होती हैं। यदि वह होतो तो नेत्र देखते, कान सुनते, जिव्हा बोलती, किन्तु उस समय उनके कोई काम नहीं होते अतः सिद्ध होता है, कि-इन सबमें जाग्रत् अवस्थामें दूसरी सत्ता (औपाधिक सत्ता) इस आत्माकी थी और इसीके पृथक् होने पर वे कुछ भी न रहे।

(७०)-यद्यपि सुषुप्तिमें इंद्रियें नहीं रहतीं, मन नहीं रहता और मनकी वृत्तियें भी नहीं रहतीं तथापि पाँच प्राण वर्तमान रहते हैं, क्योंकि- सोता हुआ श्वासोंको बराबर लेता रहता है और भीतर नाड़ियें भी चलती रहती हैं और भोजन पचता रहता है, यदि प्राण वर्तमान न रहते तो ये काम भी बन्द होजाते। इससे विदित होता है कि--उस समय ज्ञानरूप कर्म करनेकी शक्तिएँ तो जाती रहती हैं और यह दूसरी काम करनेकी शक्तियें इस लिये वर्तमान रहती हैं, कि-शरीरकी रक्षा और पालन होता रहे।

(७१)-परंतु जिस प्रकार उसकी सत्ता उन मनोवृत्तियोंमें

कल्पित है, इसी प्रकार इन पञ्च प्राणोंमें भी कल्पित है, वह सत्ता उन की निजी नहीं है क्योंकि-अपनी सत्ता अपना आपा होता है और अपना आपा अपनेसे भिन्न नहीं होसकता, यदि उनमें अपनी सत्ता होती तो वह भी वर्तमान रहते और शरीरमें सर्वदा काम करते रहते और शरीर सर्वदा जीवित रहता, परंतु मृत्युके समय यह सब जाते रहते हैं। इस कारण विदित होता है,कि-उनमें भी अपनी सत्ता नहीं होती, दूसरेकी सत्ता रहती है, क्योंकि-दूसरा सर्वदा पास नहीं रहता और आखिरमें अलग होजाता है।

(७२)-जीवनमें भी उनमें दोष और हानि प्रतीत होती हैं जब पाचक शक्ति बिगड़ती है तो बहुधा अच्छे भोजन नहीं पचते जब युवा अवस्था बीत जाती है तो फिर शरीरको बढाने वाली शक्ति काम नहीं करती और बुढापेमें शरीर घट कर निर्बल होजाता है, और जो हानि अथवा दोष वाले होते हैं अपनी सत्ता नहीं रखते और पाँच प्राण भी हानि और दोष वाले हैं अतः अपनी सत्ता नहीं रखते और दूसरी (औपाधिक) सत्ता उसी प्रकार रखते हैं, जिस प्रकार श्वेत वस्त्र भी दूसरी सुर्खीसे रँगा हुआ सुर्ख प्रतीत होता है।

(७३)-अब इस प्रकार समझना चाहिये,कि-वह इन्द्रियें जिससे सत्ता वाली हैं उसीसे यह पञ्चप्राण भी सत्ता वाले हैं क्योंकि-इन्द्रियें भी उसी प्राणके टुकड़े हैं जो करने वाला आत्मा कहलाता है, और ऊपर सिद्ध होचुका है, कि-इन्द्रिये (नफ़सानी रूहें) इसी आत्मासे सत्ता पाती हैं-सत्ता वाली हैं। इस लिये इन प्राणोंकी सत्ता भी इसी आत्मासे उधारमें लीगई है और कुछ समय तक उधारमें ली गई है, और इनमें उसी प्रकार कल्पित है, जैसे कि—इन्द्रियोंमें कल्पित है, परन्तु उन कर्मोंके अन्त तक जो इस जीवनके भोग देनेके लिये प्रकट होते हैं उधारके समान क्या जाग्रत्-क्या स्वप्न क्या सुषुप्तिमें प्रकट रहती है।

(७४)-इस प्रकार जाननेसे विदित हुआ कि—यह देखने वाला आत्मा वास्तवमें पूर्ण देखने वाला पूर्ण आनन्द और पूर्ण सत्ता है, और इसकी कोई भी सूरत या कर्म अथवा पहिचान अपनी नहीं है और यह सब विषय औपाधिक धर्म जाग्रत् और स्वप्नमें उसमें कल्पित होते हैं अपने स्वरूपमें वह अकर्ता अभोक्ता है वह देखने वाला तथा साक्षी है,

इसी आत्माको संस्कृतमें चैतन्य कहते हैं, और देखना तथा आनन्द और सत्ता उसका धर्म है क्योंकि-सुषुप्तिमें वर्तमान रहता है दूर नहीं रहता और अपने आनन्दमें भी कोई दूसरा कष्ट अथवा दुःख वहाँ नहीं देखता है क्योंकि-वहाँ उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है जिसको देखे, और दूसरी पहिचानें भी वहाँ नहीं रही जिससे अपने आपको और अपने आनन्दको और देखनेको पहिचान।

(७५)—परन्तु जब जाग्रत् अवस्था होती है तो दूसरे-पराये-मन की पहिचान पाता है, उस समय अपनी सुषुप्तिका निश्चय करता है कि-मैं आनन्दमें था दूसरा कोई भी मेरे साथ न था, इसी कारण मैं बेखबर और अनजान था और यह प्रकट है, कि-जो देखा जाता है, उसीकी पहिचान होती है, सुषुप्तिमें वह अपना आनन्द देखता था और यह ही सिद्ध है।

(७६)—अब यह विचार करें कि-वह मनोवृत्तियें तथा चेष्टाएँ सुषुप्तिमें कहाँ गई थीं तो थोड़ा विचारने पर जाना जासकता है, कि-सब इसमें उसी प्रकार विलीन होगईं थीं जिस प्रकार साँपका गुण स्वरूप भी रस्सीमें विलीन होजाता है, और रस्सी ही रस्सी दिखाई देती है, साँप कुछ भी दिखाई नहीं देता, परन्तु जाग्रत्में जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं करता तब तक यह चेष्टाएँ उसी प्रकार प्रकट होती हैं जिस प्रकार रस्सीमें जब तक साँप प्रकट रहता है जब तक कि-रस्सीका प्रत्यक्ष नहीं होता।

(७७)-यह कहा जासकता है, कि-जाग्रत्में वह चेष्टाएँ यों दिखाई देती हैं, जिस प्रकार सीपमें चाँदी दिखाई देती है। और पहिले सिद्ध कर चुके हैं, कि-यह आत्मा स्वयं देखने वाला है, और अब सिद्ध हुआ कि-दूसरी वस्तुएँ दिखाई देने वाली हैं, इस कारणसे जाग्रत् और स्वप्नमें जो संसार दिखाई देता है वह देखने वाला और दिखाई देने वाला ही है देखने वाले और दिखाई देने वालेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, देखनेवाला तो आत्मा है और दिखाई देने वाला संसार है।

(७८)-जाग्रत् और स्वप्नमें जो कुछ करना पाना दुःख सुख कष्ट और आनन्द है सबके सब दिखाई देने वाले होते हैं, और यह द्रष्टा उनमें आया हुआ सगुण कहाता है, और यही सुषुप्तिमें द्रष्टा दिखाईदेने वालेके अतिरिक्त निर्गुण भी कहलाता है क्योंकि-वहाँ वह किसी

दिखाई देने व लोक बंधनमें नहीं है और इकला स्वतंत्र निर्गुण होता है संस्कृतमें गुण बंधनको कहते हैं, बंधन वालेको सगुण कहते हैं और स्वतंत्रको निर्गुण कहते हैं, और हम इसको स्वतंत्र कहते हैं, और उसको बंधन वाला कहते हैं।

(७९)-इस कारण हम कह सकते हैं कि—वही निर्गुण है और वही सगुण है क्योंकि—जब हम दिखाई देनेवालोंमें भी उसे द्रष्टा पाते हैं वही सर्वदा स्वतंत्र है, किन्तु जब द्रष्टाको दिखाई देनेवालेके साथ पहिचान करते हैं तो वही सगुण है और यह सब संसार उसीकी चमक है, उसके अतिरिक्त कुछ सत्ता नहीं रखता अपनीही चमकमें आपप्रकाशित हुआ सगुण है जब वह अपनी चमकको अपनेमें लीन करलेता है तो वही स्वतंत्र और निर्गुण होता है।

(८०)-यह करने वाला आत्मा भी उसीका प्रकाश और उसीकी छाया है, छाया और चमक न तो उससे भिन्न होता है और न वही होता है भिन्न तो इस लिए नहीं होता कि—उसके अतिरिक्त इसकी सत्ता नहीं होती और वही वह इस लिये नहीं है, कि—यों ही संकल्पकी समान वह रस्सीमें सर्प और सीपमें चाँदीकी समान दूसरी विचित्रता उसमें कल्पित करता है। जो जो उससे लगावट नहीं पाते, इस लिये वास्तवमें वह दूसरे हैं, और तुच्छ हैं और कुछ भी सत्ता नहीं रखते।

(८१)-अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि-जिस प्रकार मनुष्य की छाया भी दीपककी चेष्टासे चेष्टा करती है, लम्बी और छोटी हो जाती है कभी बाईं ओर और कभी दाईं ओर बदल जाती है इसीप्रकार बंधन मुक्त आत्माकी छाया भी यह करनेवाली छाया भी कर्मोंके बंधन में पडकर अनेक प्रकारकी मूर्तियोंको धारण करता है, पहले तो यह स्थूल और फिर सूक्ष्म होजाता है, पञ्चतत्व और शरीर इसका स्थूल भाग है और इसका सूक्ष्म भाग करने वाला आत्मा है यह शरीरमें सब कुछ करता है और उसका फल भोगता है।

(८२)-इसको समझनेके लिये मनुष्यको अपनी पहिचान करनी चाहिये क्योंकि—इस करनेवाले आत्माकी जो कुछ विचित्रता यहाँ इस मृत्युलोकमें दीखती है वही दूसरोंमें पाई जाती है क्या सुरलोक और क्या यह लोक सब इसीकी शाखाएँ हैं और यही सबका तना है।

(८३)-अब इस प्रकार समझना चाहिये, कि—यह करने वाला

आत्मा एक बहुत बडा राईका वृक्ष है। जिस प्रकार राईका बीज बहुत छोटा होता है परन्तु जब बोया जाता है और फैलता है तो सबसे बडा वृक्ष होजाता है इसी प्रकार यह (करनेवाला आत्मारूप बीज) भी मिथ्या और तुच्छ है इसकी कुछ सत्ता नहीं है तब भी यह उस आत्मा की सत्तामें सत् होकर और कर्मरूपी जलसे सींचने पर हराभरा होकर संसाररूपी अनन्तशाखाओंमें फैला हुआ है।

(८४)—इस करने वाले आत्माके कार्य (इन्द्रियें) दो प्रकारके हैं एक तो ज्ञान पहिचान रूप हैं और दूसरी अज्ञानरूप हैं। क्योंकि—जब वह ऐसा काम करती हैं, कि—जिससे उसके कर्म सोच समझ और विचाररूप होते हैं तब यह इन्द्रियें ज्ञानेन्द्रियें कहलाती हैं और जब उस के काम सोच समझके नहीं होते तब कर्मेन्द्रियें कहलाती हैं।

(८५)—देखो! जब किसी विषयका चित्तके भीतर स्मरण करते हैं तो यह जानने पहिचानने वाली आत्मा स्मरणकी जानने वाली मूर्तियोंके अनुसार बनकर हमारी दृष्टिके सामने उठता है और वही ध्यान पहिचान अथवा ज्ञानकी वृत्तियें कहलाता है और जबहम आँख खोल कर किसी वस्तुकी ओर दृष्टि डालते हैं तो यही वृत्तियें सूर्यकी किरणोंकी समान आँखोंके मार्गसे बाहर निकलती हैं और उस वस्तुसे टकराकर उसी प्रकार उसकी आकृति पर बनती हुई उससे अभिन्न होजाती हैं, जिस प्रकार कि—सूर्यकी किरणें भी किसी वस्तु पर पड कर उसीकी आकृतिमें दिखाई देती हैं।

(८६)—जब यह मनोवृत्तियें नेत्रोंसे निकलती हैं और किसी वस्तुका रूप धारण करके उससे अभिन्न होजाती हैं तब हमारी आत्म दृष्टिके दिखानेका कारण होती हैं और इसी कारण इनको (पहिचानने की राह) ज्ञानेन्द्रियें कहते हैं क्योंकि—जब यह ज्ञान वृत्तियें इसप्रकार काम नहीं करतीं तो हमारी आत्मदृष्टिमें पहिचानका व्यावहार नहीं होता है किन्तु जब यह ध्यान और पहिचान करनेके लिये उसमें काम करती हैं तब हम कहते हैं, कि—हम उसको जानते पहिचानते हैं, अतः विदित होता है, कि—जानना और पहिचानना भी एक काम है वह हमारी दृष्टिमें इन वृत्तियोंके कारण ही कल्पित होता है परन्तु हम तो वास्तवमें न कुछ जानते हैं और न कुछ पहिचानते हैं और उस वस्तु की ज्ञान पहिचानको भी देखते रहते हैं क्योंकि—देखना तो हमारा

अपना धर्म है, परन्तु ज्ञान पहिचानके व्यवहार हमारे अपने नहीं हैं और इसी करनेवाली आत्माके धर्म हैं।

(८७)-जिस प्रकार नेत्रसे मनोवृत्तियें निकलती हैं इसी प्रकार कानसेभी निकलती हैं और शब्दको जानने पहिचाननेका काम करती हैं परन्तु हम तो न शब्दको जानते हैं और न शब्दको पहिचानते हैं केवल शब्द और उसकी ज्ञान पहिचानको देखते रहते हैं और इस बात को हम पहले लिखचुके हैं, कि-बिना देखे हुए पहिचान नहीं होती और हम प्रत्यक्षमें ज्ञान पहिचानका विश्वास करते हुए दिखाई देते हैं अतः सिद्ध हुआ, कि—हम शब्दको और उसकी ज्ञान पहिचानको अपनी आत्मदृष्टिसे देखते हैं परन्तु यह ज्ञान पहिचानके काम इस करनेवाले आत्माके धर्म हैं वह तो हममें कल्पित होजाते हैं वास्तवमें हम तो देखते ही रहते हैं।

(८८)-जो ज्ञान पहिचानका काम करती हैं वह वास्तवमें मनकी वृत्तियें हैं और वही फिर स्मरणके समय भी हमारे भीतर ज्ञान पहिचानका काम करती हैं परन्तु दूसरी शाखाएँ भी मनसे पृथक् निकलती हैं और वह आँख कान नाकमें रहती हैं तथा ज्ञान पहिचानका काम नहीं करतीं और नेत्रेन्द्रिय यो हमारी दृष्टिके लिये रूपोंको दिखानेका कारण होती है श्रोत्रेन्द्रिय शब्दको सुननेका कारण होती है। इसी कारण हम नेत्रके द्वारा देख सकते हैं और उसकी कल्पित ज्ञान पहिचानको भी पाते हैं किन्तु शब्दको नहीं सुन सकते न ज्ञान पहिचान सकते हैं।

(८९)-जब हम कर्णके द्वारा शब्दको सुनते हैं और उनकी पहिचान करते हैं परन्तु रूपकी पहिचान नहीं करसकते अतएव सिद्ध हुआ, कि--नेत्रके मार्गसे मनकी वृत्तिरूप ज्ञान पहिचानकी वृत्ति जब निकलती है तो उसके साथ ही नेत्रेन्द्रिय भी किरणकी समान निकल कर उस वस्तुके आकारकी होती हुई उससे अभिन्न होजाती है और उसके दिखाने तथा ज्ञान पहिचानका कारण रहती है। इस प्रकार जब कानके मार्गसे ज्ञान पहिचानकी वृत्तियें निकलती हैं. तब कर्णेन्द्रिय भी किरणकी समान उसके साथमें निकलती है और शब्दके आकारकी होकर उससे मिल जाती है और उसके सुनाने तथा ज्ञान पहिचानका कारण होती है।

(९०)—इस प्रकार नेत्रमें रूपके लिये कानमें शब्दके लिये जिह्वामें स्वादके लिये नासिकामें गन्धके लिये और त्वचामें स्पर्शके लिये पृथक् पृथक् इन्द्रियें रहती हैं वह इस करनेवाले आत्माकी ही भिन्न भिन्न शाखाएँ हैं और इनको ज्ञानेन्द्रियें कहते हैं क्योंकि—यह रूप शब्द स्वाद गन्ध और स्पर्शके ज्ञानका मुख्यतया कार्य करती हैं।

(९१)—इनका यही काम है, कि—जब यह किसी वस्तु पर किरणकी समान जाकर पड़ती हैं तो उसके अज्ञानको इस प्रकार दूर करदेती हैं जिस प्रकार सूर्यकी किरणें जिस पर जाकर पड़ती हैं उसके अन्धकारको दूर करदेती हैं। पाँचभौतिक अन्धकार एक ऐसी वस्तु है, कि—जहाँ होता है उसके अंशोंको ढक लेता है आँखको देखने नहीं देता इसी प्रकार अज्ञान भी हमारी आत्मदृष्टिको उन्हें दिखाने नहीं देता, और जिस प्रकार नेत्रोंमें छाया हुआ अन्धेरा स्वयं ही दिखाई देता है, इसी प्रकार सबमें अज्ञान भी छाया हुआ है और जब तक यह दूसरी इन्द्रियें अपना २ काम नहीं करतीं तब तक वह दूर नहीं होता और हमारी आत्मदृष्टिमें स्वयं ही दिखाई देता रहता है।

(९२)—यही कारण है, कि—जिस २ पदार्थ पर इन इन्द्रियोंका जब तक काम नहीं होता, तब तक हम उनसे अज्ञ रहनेका विचार प्रकट करते रहते हैं, हम उसको नहीं जानते, परन्तु इन इन्द्रियोंसे जब किसी वस्तुका हम अनुभव करलेते हैं तब हम विश्वास करते हैं, कि—हम उसको जानते हैं और पहिचानते हैं। इस कारण विदित होता है, कि—इन्द्रियें भी विशेष कार्य करती हैं, क्योंकि—वह प्रत्येक वस्तुका अज्ञान दूर करती हैं। जब इस प्रकार अज्ञान दूर होजाता है, तो हमारी आत्मदृष्टि भी उनको इस प्रकार देखती है जिस प्रकार नेत्र भी सूर्यकी किरणसे जब किसी वस्तुका अन्धकार दूर होजाता है तो, उसको देखता है। परन्तु यह प्रकट है, कि—सूर्यकी किरणें प्रत्येक वस्तुके अन्धकारको तो दूर कर देती हैं, किन्तु उनको नहीं देखतीं। इसी प्रकार नेत्र भी अन्धकारको दूर करता है, परन्तु उनको नहीं देखता। और वह आत्मा उसको देखता है, जो देखने वाला और वही साक्षी है।

(९३)—अब सिद्ध होता है, कि—मनोवृत्ति और ज्ञानेन्द्रिय आदि सब अज्ञानके दूर करनेके कारण हैं, परन्तु स्वयं द्रष्टा नहीं हैं और सूर्य

की किरणोंकी समान जड़ है, परन्तु दर्पणकी समान स्वच्छ है और हमारे साक्षिस्वरूप आत्माकी दृष्टि है और आत्मा उनमें प्रकट होकर जहाँ २ वह काम करती है तहाँ २ उनके कार्योंको और जिनमें ये इंद्रियें कार्य करती हैं उनको एक साथ देखता रहता है। उसकी दृष्टि कभी भी लुप्त नहीं होती, जब वस्तुमें अज्ञान (न जानना) रहता है तो उन्हें अज्ञात (न जानी हुई) देखता है और जब वस्तुमें इन्द्रियें कार्य करती है तो उनको ज्ञात (जानी हुई) देखता है। इसप्रकार वह जैसी होती हैं और जिस गुणसे युक्त होती हैं, वह उनको ज्यों का त्यों असंग रह कर प्रकाशित करता रहता है और स्वयं अलिप्त रहता है।

(९४)—वस्तुको न जाननेका नाम अज्ञान है और जो वस्तु न जानी जाय उसको अज्ञात कहते हैं और जानी हुई वस्तुको ज्ञात कहते हैं। जब तक कोई वस्तु अज्ञान (न जाननेसे) युक्त रहती है तब तक उसको अज्ञात कहते है और जब ज्ञानेन्द्रियोंसे उसका अज्ञान (न जानना) दूर होजाता है और वह ज्ञात कहलाने लगती है। और क्रिया तथा ज्ञानका वर्ताव वस्तुओंमें इन्हीं वृत्तियोंके कारण होता है, इस लिए यथार्थमें यही मनोवृत्तियें और इन्द्रियोंकी किरणें ज्ञानकी करण हैं। साक्षी तो दृष्टिस्वरूप सत्ता स्थिर स्वयं ज्ञान नहीं है, किन्तु उनमें बद्ध होकर जानने वाला कहलाता है।

(९५)-ज्ञानका अभिमान करने वाले पश्चिमीय विद्वान् इस पहिचानने वाली समूह बालेको और इस साक्षीको नहीं जानते। यद्यपि वह पहिचान करनेका दम भरते हैं, क्योंकि—वह बुद्धिमान् कहलाते हैं, तथापि वह इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं, कि—ये इन्द्रिये अलग हैं और वह आत्मा अलग हैं और बहुतसे पुरुष तो साक्षित्व आदिको मस्तिष्क का प्रभाव समझते हैं, परन्तु उनके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि यह बात ठीक है, कि—जब मन और मस्तिष्क दोनों ठीक होते हैं,तब यह ये दोनों रूहें (इन्द्रियस्वरूप और आत्मस्वरूप) प्रकट होती हैं, इस लिए पाश्चात्य विद्वानोंका साक्षित्व आदिको मस्तिष्कका प्रभाव वा धर्म बताना भ्रम है। और यह लाल शराबसे भरे हुए बिल्लौरके गिलासको लाल माननेकी समान भ्रम ही है। ये मनोवृत्तियें यथार्थमें मस्तिष्कके ठीक होने पर ही प्रवृत्त होती हैं और उनके धर्म, शराबकी लालिमाके बिल्लौरमें दिखाई देनेकी समान, मस्तिष्कमें दिखाई देते हैं।

(९६)—यदि पाश्चात्य विद्वान् अपनी विद्वत्ताके अभिमानको छोड कर विचार करें तो पहिचान करने वाली रूह (इन्द्रिय-मनः वृत्तिसमूह वाली आत्मा) को स्वीकार करलें। क्योंकि—यह नियम है, कि—जो जिसका स्वाभाविक गुण होता है, वह उससे कभी अलग नहीं होता और दूसरेका गुण ही वस्तुसे पृथक् हुआ करता है। सुषुप्तिमें मस्तिष्क शुद्ध होता है, तब भी यह पहिचान उसमें नहीं होता है। जाग्रत्में जब निर्विकल्प समाधि होती है; तब भी मस्तिष्क इन पहिचानरूप वृत्तियोंसे खाली रहता है, परंतु जब हम समाधि और सुषुप्तिसे रहित होते हैं, तब ये फिर मस्तिष्कमें प्रतीत होता हैं।

(९७)—यथार्थमें ज्ञानेन्द्रियें हमारे ज्ञानकी करण हैं और मस्तिष्क उनका वतन है, तहाँ पर वह रहता हैं और हम उनसे व्यवहार करते हैं और स्वप्नके समय वह मस्तिष्कसे उतर कर सूक्ष्मनाड़ियोंमें जाती हुई हमको प्रतीत होती हैं और हम भी उनके साथ जाते हुए मालूम होते हैं। जब तक हम हार्दाकाशमें प्रवेश नहीं करते हैं तो इन नाड़ियोंमें ही स्वप्नकी एक विचित्र अवस्थाको रचते हैं और उसकी जान पहिचान इन करणोंके ही द्वारा करते हैं और जब हम हार्दाकाशमें उतर आते हैं तो इनको भी छोड़ देते हैं और इसीका नाम सुषुप्ति है, उस समय हम अपनी (आत्माका) दर्शन तो करते हैं; परन्तु उस समय इन इन्द्रियोंके जान पहिचानरूप कार्य नहीं होते, इसी लिए हम जानने पहिचानसे शून्य रहते हैं, परन्तु जिसप्रकार जान पहिचानके समय जान पहिचानको देखते हैं, इसी प्रकार यहाँ बेजान पहिचान (अज्ञान) को देखते हैं क्योंकि—जानने पर अपने अज्ञान रहनेकी बातको कहते हैं (कि—सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्)।

(९८) पहिले लिखा जा चुका है, कि—यह जान पहिचान न होना ही अज्ञान है और सुषुप्तिमें जान पहिचानका कार्य नहीं होता और अज्ञानरूप (औपाधिक) दूसरेका गुण भी हममें आजाता है। इसी कारण हम आत्माको अज्ञानगुणसंयुक्त देखते है, किन्तु हम यह नहीं सोचते, कि—हम ज्ञान पहिचान रहित हैं और अज्ञानको देखते रहते हैं और केवल साक्षी हैं। और जाग्रत्में यह जानने पहिचानने वाली आत्मा किसी प्रकार हम (शुद्ध आत्मा) में औपाधिक रूपसे प्रकट हो

जाती है तो हम अपने अज्ञानको दूर कर देते हैं और वहाँ (सुषुप्तिमें) जो उसको दिखाई देता था, उसकी पहिचान भी करते हैं और सोचते हैं हम वेखवर और अज्ञ होगए थे। अतः इस प्रकार विचार करने पर हम जान जाते हैं, कि—क्या ज्ञान और क्या अज्ञान ये दोनों औपाधिक (वेगाना) धर्म हममें कल्पित हैं और हम अर्थात् आत्मा इन दोनोंसे अलग है। और आत्मा दोनोंसे भिन्न द्रष्टारूप आनन्दरूप और सद्रूप है। और यह अज्ञान तो करने वाली आत्माका स्वरूप है-गुण है।

(९९)—यह इन्द्रियें सुषुप्तिके समय अज्ञानमें इस प्रकार लीन होजाती हैं, जिस प्रकार वृक्षकी शाखाएँ और पत्ते उसके बीजमें लीन रहते हैं। और ये इस अज्ञानमेंसे ही इस प्रकार प्रकट होजाती हैं, जिस प्रकार बीजमेंसे शाखा पत्ते आदि लहलहाते हुए प्रकट होजाते हैं।

(१००)—वास्तविक बात यह है, कि—जान पहिचानका न होना अज्ञानका लक्षण नहीं है, किन्तु जब यह जानने पहिचानने वाला आत्मा लपेट खाती है और बँध जाती है, तो अज्ञान कहलाती है और जब यही फैलता है और नानावृत्तिरूप शाखा होकर जान पहिचान कहलाने लगती है। विचारवान् मनुष्यको प्रकट होसकता है, यह जान पहिचानरूप वृत्तिएँ जब लपेट खाती हुई मस्तिष्कसे उतर कर भीतर एकत्रित होजाती हैं तब निद्रा आजाती है और जब पूर्णरूपसे मनके भीतर एकत्रित होजाती हैं और जान पहिचान रहित अवस्था होजाती है, तो सुषुप्ति अवस्था होजाती है। अत एव प्रतीत होता है, कि—यथार्थमें जान पहिचानकी वृत्तियों वाले आत्माका बँधना अज्ञान है, ज्ञानके न होनेका नाम अज्ञान नहीं है।

(१०१)—क्लोरोफार्मके सूँघने पर भी यह ज्ञानेन्द्रियें झट पट बंद होजाती हैं और प्राणी मूर्छित होकर शवकी समान होजाता है, इससे सिद्ध होसकता है, कि—इनके बन्द होनेका अथवा बँधनेका नाम अज्ञान है और इनका खुल जाना जान पहिचान वा ज्ञान है। य इन्द्रियें जब स्वाभाविक रीति पर एकत्रित होजाती हैं तो वह अवस्था निद्रा कहलाती है और अस्वाभाविकरीतिसे एकत्रित होती हैं तो वह अवस्था मूर्छा कहलाती है, परंतु जब खुल कर मस्तिष्क और कान तथा नेत्र तक आजाती हैं तो जाग्रत् अवस्था होजाती है, और इसीको होशमें आना कहते हैं और जब यह मस्तिष्कसे पूर्णरूपसे

सम्बंध त्याग देती हैं, तो मृत्यु होजाती है। इससे प्रतीत होता है, कि-जान पहिचान मस्तिष्कका अपना धर्म नहीं है, किन्तु औपाधिक धर्म है हाँ मस्तिष्क उसके प्रकट होनेका स्थान अवश्य है।

(१०२)-और भी बहुतसे कारण हैं, कि—जिनसे सिद्ध होता है, कि—यह मस्तिष्कका अपना (स्वाभाविक) धर्म नहीं है। क्योंकि-मस्तिष्क ऐसी वस्तु नहीं है जो किरणकी समान नेत्र वा कानसे निकल कर वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करे। परंतु यह इंद्रियें तो झटपट आसमान तक इस प्रकार जा पहुँचती हैं, जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्यसे झटपट पृथ्वी तक आजाती हैं। क्योंकि—जब हम चन्द्रमाकी ओर दृष्टि करते हैं तब यह (रूहें) इंद्रियें चंद्रमा और नक्षत्रों तक पहुँच जाती हैं और उनकी आकृतिकी बनती हुई उनसे एक होती हुई उनको देखने और उनकी जान पहिचानका काम करती हैं और चंद्रमा से लग कर शीतल और शांत होती हुईं हमारे नेत्र और मस्तकको ठण्डक देती हैं।

(१०३)—फिर जब हम दो चार मिल जाते हैं तो एक दूसरे मनोवृत्तियें परस्पर टकराती हैं और हम कहते हैं, कि-हमारी नजर उसकी नजरसे लडती है और जब हम चन्द्रमा अथवा किसी वस्तुकी ओर देख कर नेत्र मींच लेते हैं और चित्तमें उसका ध्यान करते हैं तो मनोवृत्तिएँ जो असली चन्द्रमासे टकरा कर भीतर आगईं थीं, वे चित्तके भीतर उसी चंद्रमाके आकारके एक नवीन चंद्रमाको बना कर दिखाती हैं और वह बुद्धिकृत चंद्रमा कहलाता है।

(१०४)-बस जहाँ बुद्धि और वस्तु एक स्थान पर होती हैं, तहाँ तो वस्तु प्रत्यक्ष उपस्थित रहती है और जहाँ केवल बुद्धि होती है और वस्तुकी आकृतिमें बन जाती है, किन्तु वस्तु तहाँ नहीं होती है तो तहाँ केवल उसका ज्ञान होता है। यथा-ध्यानके समय मस्तिष्कमें कल्पित चाँदनी नहीं होती, परंतु उसका ज्ञान होता है।

(१०५)-स्वप्नके समय भी यद्यपि भीतर संसार नहीं होता है, तथापि उसका ज्ञान संसारके आकारमें मनुष्यको निद्राके समय दिखाई देता है अतः सिद्ध होगया, कि—मस्तिष्क संसारके आकारमें नहीं था, और यह ज्ञानेन्द्रियें ही संसारके आकारमें बदल जाती हैं और यही संसारके बाहर फैल कर संसारकी आकृतिमें बनती हुईं संसारको

दिखाई देती है। इस लिए प्रतीत होता है, कि—वह बुद्धि (ज्ञान) और अज्ञान मस्तिष्कका धर्म नहीं है; किंतु मस्तिष्कके अतिरिक्त जानने की रूह (इंद्रिय—आत्मा) का धर्म है; वह मस्तिष्कमें जीवन भर स्थिर रहता है।

(१०६)—पाश्चात्य विद्वानोंका यह सिद्धांत है, कि—जब सूर्यकी किरणें नेत्रों पर पड़ती हैं और नेत्रोंके परदोंके भीतर(मुनतव अ उलमहसूसात) इन्द्रियोंके चित्रलेनेके स्थानरूप परदे पर प्रत्येक वस्तुकी तसवीर छापती हैं, तब वह वस्तु दिखाई देती है। परंतु उनका यह सिद्धांत ठीक नहीं है। क्योंकि—यदि सूर्य अथवा दीपककी किरणें वस्तुसे टकरा कर लौटने पर मुनतव अ उलमहसूसात पर तसवीरें छापती तो और उनके दिखलानेका कारण होती तो उन तसवीरों—दृश्यों—का भी ज्ञान होजाता जो हर समय नेत्रमें छपती रहती हैं परंतु मनके न होने से नहीं मालूम होतीं।

(१०७)—यदि बाहरी वस्तुओंकी तसवीरें आँखमें छप कर वस्तुओं को दिखाने वाली होतीं तो आँख बहुत छोटी चीज़ है और जो प्रतिबिम्ब उस पर पड़ते हैं वे बहुत ही छोटे होते हैं, अतः वे वस्तुएँ भी बहुत छोटी मालूम होनी चाहियें थीं, परंतु ऐसा नहीं होता और हम मनुष्य नदी पर्वत आकाश आदि सबको पूर्ण आकारमें ही देखते हैं, संक्षिप्त और छोटे आकारमें नहीं देखते।

(१०८)—आँखमें (मुनतव अ उलमहसूसात) प्रतिबिम्ब छपनेके परदे पर आकृतियें इस प्रकार उल्टी और सूक्ष्मरूपमें छपती हैं जिस प्रकार फोटोके शीशे पर या साधारण शीशे पर दीखती हैं, परंतु हमको सीधी और पूर्णरूप वाली दिखाई देती हैं। इससे स्पष्टतया सिद्ध है, कि-हमारा मन बाहरी किरणोंसे आँखमें छपती हुई वस्तुओंका जानकार नहीं होता है।

(१०९)—किन्तु पहिले बाहिरी वस्तु पर प्रकाशकी किरणें पड़तीं हैं और अंधकारको दूर करती हुई उसकी आकृतिको धारण कर लेती हैं, फिर दृष्टिकी किरणें आँखसे निकलकर उस—प्रकाशित वस्तु पर पड़ती हुईं उसकी आकृतिके आकारकी होजाती हैं और इस दृष्टि पर सवार विज्ञान (दानशी रूह) किरणकी समान निकल कर उस वस्तुकी आकृतिको धारण कर लेता है। जब इस प्रकार विज्ञान

किसी वस्तुकी आकृतिको धारण करता है तो आत्मदृष्टि उसके अज्ञान को दूर कर देती है, तब उस वस्तुका ज्ञान होता है। यही कारण है, कि—पूर्ण परिमाण वाली वस्तुसे ज्ञान होता है। क्योंकि-सूर्यकी किरण, दृष्टिकी किरण और विज्ञानकी किरणका स्वभाव है, कि—जिस वस्तु पर पड़ती है, उसके बराबर उसकी आकृतिकी बन जाती हैं। बस स्पष्ट है, कि—बाहरी किरणोंके कारण जो तसवीर नेत्रमें छपती है उससे मन प्रतिभासित (आगाह) नहीं होता और मन तो उस आकृति से ज्ञानवान् होता है, जिस आकृतिको विज्ञान (अर्थात् मन) अंगीकार कर लेता है।

(११०)—यदि उनके विचारको किसी प्रकार उचित मान लिया जाय तो विज्ञान उनके सिद्धान्तका खण्डन कर देता है, क्योंकि—वह नेत्रमें जिस (मन्तव अ उलमहसूसात) नेत्रके जिस परदेको मानते हैं, वह शरीर ही है, और शरीरका यह स्वभाव है, कि-अगर उस पर एक चित्र खींचें और उस चित्र पर ही दूसरा चित्र खींचें तो दोनों चित्र इस प्रकार खराब होजाते हैं जिस प्रकार एक कागजके टुकड़े पर किसी मुहरको छाप कर दूसरी मुहरको या उसी मुहरको फिर तहाँ छाप दिया जाय तो दोनों मुहरें अन्धी होकर दिखाई नहीं देंगी।

(१११)—यहाँ भी प्रत्येकक्षणमें किसी न किसी वस्तुको हम देखते रहते हैं, अतः एकके बाद एक चित्र आँखमें छपता ही रहता है, तो वह खराब होजानी चाहिये और स्वच्छ दिखनेका कारण न होनी चाहिये। दूसरा दोष यह है, कि—प्रतिबिम्ब तो आँखमें पड़ते रहते हैं—छपते रहते हैं—परन्तु उनकी (दीद) पहिचान मस्तिष्कमें वा बाहर क्यों होती है, अतः सिद्ध है, कि—मस्तिष्कके मार्गसे कोई आत्मिक प्रकाश नेत्रमें आता है और उसमें तसवीरकी परिमाण बनाता है और इसीका नाम समझना है। इस दशामें पाश्चात्य विद्वानोंको मानना पड़ेगा, कि-कोई (रूह) आत्मा मस्तिष्कके मार्गसे नेत्रमें आता है और चित्रके परिमाणको नेत्रमें बनाता है, इसीको समझना कहते हैं, परन्तु स्वयं तो वह चित्र समझना नहीं है।

(११२)—पाश्चात्य विद्वान् बाहर देखनेमें बड़े २ विचार प्रकट करते हैं, जिनका अन्तिम परिणाम उन्होंने यह निकाला है, कि-देखना तो नेत्रके भीतर है और बाहर जा अपने मकान पर वस्तु दिखाई देती

है, वह भ्रमकल्पित है। इस दशामें इन्द्रियोंको प्रमाण अथवा सत्य नहीं माना जासकता। क्योंकि-जिस ज्ञानमें कोई भ्रम होता है, तो उसका करण प्रामाणिक किस प्रकार माना जासकता है, क्योंकि-वही प्रामाणिक होता है, कि-जिसका ज्ञान सत्य होता है।

(११३)-वह इस बातको भी कहते हैं, कि-जो वस्तु नेत्रके भीतर छपती है वह प्रतिविम्वरूपमें इस प्रकार छपती है, जिस प्रकार फोटो लेनेके शीशेमें प्रतिविम्ब छपता है। पाश्चात्य पुरुष उसके सीधे देखने में बड़े २ प्रमाण उपस्थित करते हैं, परन्तु वह प्रमाण विज्ञानसम्मत नहीं है। और वह इस बातका भी कुछ उत्तर नहीं देते, कि-जब हम नेत्रोंको मीच कर किसी वस्तुका ध्यान करते हैं तो उसकी आकृति विना छपे हुए किस प्रकार बन जाती है? क्योंकि-यह बात तो संभव नहीं है कि-ध्यानके समय सूर्यकी किरणें मस्तिष्कके भीतर पहुँच जावें और वस्तुके न होने पर भी उस वस्तुको छाप दें।

(११४)-जिस वस्तुको हमने कभी भी न देखा हो, उस वस्तुकी भी हम ध्यानमें कल्पना कर सकते हैं। यथा-गणेशजीकी मूर्ति प्रत्यक्ष रूपमें हमने नहीं देखी, परन्तु हम शास्त्रके वचनोंके अनुसार हाथीकी समान शिर वाले और मनुष्यकी समान शरीर वाले गणेशजीका ध्यान कर सकते हैं। अब बताइये, यह कौनसा काम है जो ध्यानके समय मूर्तिमान् हो जाता है और बदल जाता है। अस्तु! मानना पड़ेगा, कि-यह वही ज्ञानकरण है और यही अन्तःकरण और मन कहलाता है। और वही नेत्र और श्रोत्रके मार्गसे किरणोंकी भाँति निकल कर जहाँ वस्तु होती है, तहाँ पहुँच जाता है और उसकी मूर्ति पर पड़ कर उस को दिखानेका हेतु होजाता है।

(११५)-परन्तु इसमें सन्देह नहीं है, कि-जहाँ अन्धकार होता है तहाँ अन्धकारकी मूर्तियें बनती हैं और उसके भीतर जो वस्तुएँ होती हैं, उनके सांचनेमें अन्धेरा उसको रोकता है, सूर्यकी किरणें तो उसकी सहायक होती हैं, क्योंकि-वह तो केवल अन्धकारको दूर करती हैं, किन्तु वस्तुके अज्ञानको दूर नहीं करतीं, यह ज्ञानात्मा तो उसकी मूर्तिका बनता हुआ उसके अज्ञानको भी इस प्रकार दूर कर देता है, जिस प्रकार किरणें अन्धकारको दूर कर देती हैं और साक्षी आत्मा जो इनमें प्रकट होता है, उनको स्पष्ट करता है यही वास्तविक दर्शन है।

(११६)-किंतु जब हम नेत्र और कर्णको वन्द करके उन मूर्तियों का स्मरण करते हैं तो हमारे ध्यानके भीतर वही आत्मा उनकी मूर्तिका बनता है। क्योंकि-उपस्थित वस्तुएँ उसके अधिकारमें नहीं होगीं, इस लिए उसको ध्यान वा केवल ज्ञान कहते हैं। अस्तु! प्रतीत होता है, कि—यह करने वाला आत्मा जो इस प्रकार वर्ताव करता है, वास्तव में प्रत्यक्ष (दानिश्त) विज्ञान है और साक्षी उसको भी ध्यानमें देखता रहता है। इस दानिश्तको संस्कृतमें विज्ञान कहते हैं और उसमें प्रकट होने वाले साक्षीको विज्ञानमय कहते हैं, क्योंकि-उस समय वह विज्ञान में बद्ध होता है और वही सगुण ब्रह्म है।

(११७)-किंतु जब वह सुषुप्तिमें जाता है तो इस विज्ञानके बंधन से निकल जाता है और पूर्ण स्वतंत्र होजाता है, इसी कारण तहाँ पर किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि—वह तो (दानिश्त) विज्ञान के बंधनसे निकल कर निर्गुण ब्रह्म होजाता है। वह विज्ञानके बंधन में फँस कर भी वास्तवमें बद्ध नहीं होता और उसी प्रकार दिखाई देता रहता है, जिस प्रकार दर्पणमें मुख दिखाई देता रहता है और जिस प्रकार प्रतिबिम्ब दर्पणमें बँधा हुआ पहिचाना जाता है, इसी प्रकार विज्ञानमें भी प्रतिबिम्बकी समान यह आत्मा बद्ध प्रतीत होता है। परंतु बिम्ब तो दर्पणके बंधनमें नहीं रहता, इसी प्रकार वह वास्तवमें बद्ध नहीं होता और बद्धसा प्रतीत होता है।

(११८)-जब यही विज्ञान नेत्रसे किरणोंकी भाँति निकलता है और वास्तविक रूपको दिखानेके लिये चक्षु इन्द्रिय भी किरणकी समान साथमें सहायता देती है और तो उस समय उसको नेत्रोंसे देखने वाला चक्षुर्मय (द्रष्टा) कहते हैं। जब यही विज्ञान कानसे निकलता है और उसके साथ कर्णेन्द्रिय भी किरणकी समान सहायक होजाती है और शब्दको पहिचाननेके लिये प्रकट होती है इस कारण इसको श्रोत्रमय कहते हैं।

(११९)-यद्यपि यह औपाधिक इन्द्रियोंके बंधनमें आकर इनके नामोंसे बद्ध नाम पाता है। अधिक क्या लिखें यही शरीरके बंधनमें पड़ने पर मनुष्य होता है और बंधनोंसे निकलने पर यह ईश्वर और परमात्माका परमात्मा ही होजाता है और अब भी यह बंधनमें पड़ा हुआ बद्ध या मनुष्य नहीं है किंतु ईश्वर और परमात्मा है।

(१२०)-दूसरी रूहें (इन्द्रियें) कर्म करने वाली हैं और वह वही हैं जो शरीरके भीतर खेंचती निकालती पकाती रोकती और बनाती हैं हम कर्मकाण्डमें पञ्चप्राणके नामसे इनका विस्तृत रूपसे वर्णन कर आए हैं और उनके बंधनमें पड़ा हुआ यही प्रजापति हर्ता कर्ता और उत्पादक है परन्तु शक्तिकी रूहें (कर्मेन्द्रियें) शाखाओंकी समान हैं और दानिशकी रूहें टहनिओंकी समान हैं और यह हवासकी रूहें अर्थात् ज्ञानेन्द्रियें पत्र और फलस्वरूप हैं इस प्रकार यह इन्द्रियें कर्मोंका भोग करनेके लिये शरीरमें इस प्रकार फैलाकर बनाई गई हैं कि-जिस प्रकार हवेलीमें खम्भे लगाए जाते हैं और यह मनुष्यका शरीर कहलाती हैं।

(१२१)—अब इस बातको सुनो, कि—वह स्वतंत्र इसमें क्योंकर बद्ध होजाता है जिस ज्ञानात्माके इस शरीरके भीतर रहनेका वर्णन किया गया है वह अनेक वृत्तियोंसे इस प्रकार फैलजाती है जिस प्रकार सूर्य अपनी असंख्य किरणोंसे चारों ओर फैल जाता है किन्तु चतुर पुरुषोंने उसकी पूर्णताको चार भागोंमें बाँटा है या तो वह विचार करती है या याद करती है अथवा बूझती है या अभिमान करती है। जब वह विचार करती है तब उसको मन कहते हैं जब वह याद करती है तब उसको चित्त कहते हैं जब वह दर्यांफ्त करती है-बूझती है-तब उसको बुद्धि कहते हैं और जब वह अभिमान करती है तब उसको अहङ्कार कहते हैं।

(१२२)—जिन पञ्चप्राणोंका वर्णन किया है उनमें इस चेतन आत्माकी सत्ताका अनुभव होता है परंतु उसके प्रकाशका प्रतिबिम्ब नहीं होता, इस लिये वह सत् तो हैं परंतु प्रकाशमय नहीं हैं और उनमें चेष्टा इस प्रकार आजाती है जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें लोहेके कारणसे चेष्टा उत्पन्न होजाती है परन्तु इन (सनाख्तकी रूहोंमें) ज्ञानमय इन्द्रियोंमें चेतनकी सत्ता भी प्रकट होती है और उनके प्रकाश का भी प्रतिबिम्ब पडता है इस लिये वह कामचेष्टाके अतिरिक्त चेतन और प्रकाशमय भी होजाती है परंतु उसका अहंत्व और किसीमें प्रकट नहीं होता केवल अहङ्कारमें ही प्रकट होता है इस लिये साधारण पुरुषों को अहङ्कार और आत्माका भेद समझना कठिन होगया है और सबको अहंकार आत्मा और आत्मा अहंकार प्रतीत होता है ।

(१२३)–जब कि–अहङ्कार उस आत्मामें और उसकी सत्ता तथा सब गुणोंमें कल्पित है तो इस बन्धनमें पडा हुआ वह इस शरीरका अभिमानी होजाता है क्योंकि—सब वृत्तियें इसी अहङ्कारके अधीन रहती हैं और इसीके लिये बुद्धि बूझती है, फिर बूझनका विचार होता है और कर्मेन्द्रियें उठती हुई हाथ पाँव चलाती हैं और मनुष्यका कार्य करती हैं तब मनुष्यके सब कार्यव्यवहार इसी अहङ्कारके द्वारा उसमें कल्पित होते हैं वास्तवमें उसके नहीं हैं।

(१२४)–क्योंकि—वह तो अहङ्कारको उसके कार्यको और अहङ्कारकी वृत्तियोंके कार्यको भी केवल देखता रहता है, यही कारण है, कि–वह अपने अहंकारको भी जानता पहिचानता रहता है और उसके व्यवहारको अपनेमें मानता रहता है तथा इन जान पहिचानकी वृत्तियों को भी पहिचानता रहता है और उन सबको अपनी दृष्टिसे केवल देखता है वह औपाधिक अहङ्कारसे अहङ्कारी, औपाधिक पहिचानसे पहिचानने वाला और औपाधिक शक्तियोंसे कर्ता तथा भोक्ता होता है वास्तवमें तो न वह कुछ करता है न वह कुछ भोक्ता है केवल देखता रहता है तब भी औपाधिक बन्धनोंसे तथा प्रधानतया अहङ्कारके औपाधिक बंधनसे बद्ध रहता है।

(१२५)–जब यह अहंकारके बन्धनको विवेकसे तोड़ देता है किंतु उसको अपनेमें दूसरा और कल्पित जानता है तब यह उनमें प्रकट हो कर भी बद्ध नहीं होता किन्तु परम स्वतन्त्र होजाता है, इस प्रकार बन्धनोंसे छुटकारा पाकर मुक्त होजाता है, वास्तवमें इस अहंकारसे छूटना ही मोक्ष है और यही ज्ञानमें स्थित होना है। कर्मकाण्डमें इसी अहंकारको दुर्बल बनाया जाता है और ज्ञानके द्वारा इसीकी जड़ उखाड़ी जाती है और वेदान्ती इसी अहंकारको वासनाके नामसे कहते हैं और इसके अधीन रहने वाली पहचानकी सब वृत्तियें भी वासनामयी कहलाती हैं और दूसरी हैवानी अर्थात् पशुवृत्तियें कहलाती हैं।

(१२६)–इस प्रकार वासनामें बँधा हुआ (नफसानी) वासनामय पशुवृत्तियोंमें आया हुआ पशु और शरीरके बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य कहलाता है किंतु उसके ये सूक्ष्मबन्धन जो मनुष्यमें ही दिखाई देते हैं (हैवानों) पशुओंमें कम और (नवातात) वृक्ष आदिमें उससे भी कम क्यों उनमें कम वृत्तियें होती हैं देखो ! वृक्ष आदिमें पञ्चप्राण

तो होते हैं परन्तु ज्ञान पहचान करने वाली अथवा वासनामयी इंद्रियें नहीं होतीं पशुओंमें जानने वाली इन्द्रिय समूहस्वरूप आत्मा तो है परन्तु बुद्धि नहीं होती इस लिये वृक्ष आदिका पशुओंसे और पशु आदिका मनुष्यसे भेद किया गया है।

(१२७)-फिर मनुष्योंमें भी कुछ मनुष्य अल्पबुद्धि और कुछ मनुष्य परमबुद्धिमान् होते हैं यह सब न्यूनाधिकता उस करने वाली आत्माकी होती है वास्तविक आत्माकी नहीं होती। आत्मा तो एक है वह तो मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष आदि सबका देखने वाला साक्षी है सब में एक है किन्तु जिस २ समष्टि और व्यष्टि (जाति और व्यक्ति) में प्रकट होता है उसके अहंकारमें कल्पित अहंत्वका सम्बन्ध पाता है उसी को अपना आपा समझता है और उसीके हानिलाभको अपनेमें मानता है और यह सब बातें अपनी दृष्टिकेअतिरिक्त उसमें करने वाली आत्मा की ही कल्पित होती हैं यही कारण है, कि—यज्ञदत्तकी मनोवृत्तियोंसे जानी पहचानी हुई वस्तुओंको देवदत्तके मनसे नहीं पहचान सकता और देवदत्तकी मनोवृत्तियोंसे पहचानी हुई वस्तुओंको यज्ञदत्तकी मनोवृत्तियोंसे नहीं पहिचान सकता।

(१२८)-यदि वह ज्ञान पहिचान भी दृष्टिकी समान उसका अपना धर्म होती तो अवश्य हीयज्ञदत्तका जानना देवदत्तका पहचानना होजाता है परंतु यज्ञदत्तकी ज्ञान पहचान तो औपाधिक है यद्यपि वह देवदत्तमें भी अकेला ही प्रकट रहता है परन्तु यज्ञदत्तकी मनोवृत्तियें दूसरी हैं और देवदत्तकी मनोवृत्तियें दूसरी हैं औपाधिक हैं इस लिये एकका ज्ञान एकमें नहीं होता क्योंकि-आत्मा तो सबसे अलिप्त और पवित्र है और सब वृत्तियें उसीमें कल्पित होती हैं।

(१२९)-जिस प्रकारयह पवित्र केवल और साक्षी आत्मा मनुष्य और पशु पक्षी तथा उनकी वृत्तियोंमें प्रकट होरहा है इसी प्रकार ऊपर के लोकोंमें भी पितर देवता और प्रजापति इन सबमें यही अकेला साक्षी आत्मा प्रकट होरहा है और प्रत्येकके अहंकारमें अहन्त्वके संबंध से पितर देवता और प्रजापति कहलाता है किंतु इन मनुष्य पशु पक्षी आदिके अहंकार तो आंशिक हैं और देवता पितर आदिके अहंकार पूर्ण हैं मनुष्य आदिका ज्ञान सूक्ष्म होता है और इन देवता पितर आदिका ज्ञान पूर्ण होता है इसी कारण इनमें आकर यह आत्मा सर्वशक्तिमान

और सर्वज्ञ कहलाता है किंतु वहाँ पर भी जो सबमें सब कुछ जानता है और सबमें सब कुछ होजाता है वह उसका अपना धर्म नहीं है किंतु उसी दूसरी आत्माका धर्म है जो वृत्तिरूप और प्राणरूप शाखाओं से ऊपरके लोकोंमें अन्यप्रकारकी अद्भुततासे प्रकट होता है और उन में बँध कर उनके विशेषणोंसे विशिष्ट होजाता हैं परंतु अपने स्वरूपमें वह ज्योंका त्यों शुद्ध अकर्त्ता अभोक्ता और साक्षी रहता है।

(१३०)—देखो जब हम गाढ़निद्रा वा समाधिमें मग्न होजाते हैं तो अपने संक्षिप्त बंधनोंसे अर्थात् मनुष्यके ज्ञान और मनुष्यकी करतूतोंसे छूट जाते हैं और देखने वाले तथा स्वतंत्र होते हैं। इसीप्रकार इन्द्र या प्रजापति जब सोता है या समाधिमें मग्न होता है तब यही सर्वतंत्र स्वतंत्र और साक्षीमात्र रहता है, यही कारण है, कि—समाधि अथवा सुषुप्ति अवस्थामें सब एक हैं और जाग्रत्में बेगाना शरीर और बेगाना (औपाधिक) योनियोंमें आकर एक ही अनेक होजाते हैं इस प्रकार यह स्वतंत्र और एक आत्मा भिन्न २ बन्धनोंमें नानारूपसे प्रकट होकर विराट भगवान् कहलाता है।

(१३१)—उच्चशरीरोंमें तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् यही है और मनुष्य आदि अपकृष्ट शरीरोंमें अल्पशक्ति और अल्पज्ञ यही है, परन्तु क्या सर्वशक्ति और क्या सर्वज्ञता तथा क्या अल्पशक्ति और क्या अल्पज्ञता दोनों ही औपाधिक (दूसरोंके) बन्धनोंके धर्म हैं, स्वयं उसके धर्म नहीं हैं। जो इनको दूसरेके धर्म जानता है, वह बंधनमें नहीं फँसता, किंतु बंधनमें प्रकट होकर भी स्वतंत्र रहता है, उनका साक्षी रहताहै और मैं ब्रह्म हूँ इसका स्पष्टतया प्रतिपादन करता है। और यही विचार परम फल है।

(१३२)—जिस प्रकार मनुष्यका शरीर अपने करने वाले आत्मा से मिल कर मनुष्य कहलाता है। इसी प्रकार सारी पृथ्वी और आकाश आदि और जो कुछ उनमें हैं, यह सब समष्टिरूपसे (समस्त) एक शरीर है और वही करने वाला आत्मा इस शरीरमें मिला हुआ है और विराट भगवान् कहलाता है और वेदान्ती उसीको विराट कहते हैं। किंतु जिस प्रकार मनुष्यके शरीरको छोड़कर उसकी भीतरी आत्मा वासना-(मय) कहलाता है इसी प्रकार समष्टि शरीरका कुछ भी ध्यान न रख कर उसके भीतर रहने वाली आत्माको हिरण्यगर्भ और प्रजापति कहा करते हैं।

(१३३)–मनुष्यका शरीर तो वास्तवमें विराटकेशरीरका एक अंश है और मनुष्यकी वासना परमात्माकी वासनाका एक अंश है, किंतु आत्मा सबमें एक है। यह मनुष्यका और विराटका तथा आत्माका भेद है। प्रजापतिको पिता और मनुष्य तथा वासनामय—प्राणको मिला कर पुत्र कहते हैं और इस आत्माको शुद्ध आत्मा कहते हैं। वास्तवमें ये तीनों एक हैं, क्योंकि—कल्पित वस्तु अपने प्रकटकर्तासे भिन्न नहीं होती है और पिता पुत्र आदि सब इस शुद्ध आत्मामें कल्पित हैं अतः एक हैं, यह बात आरम्भसे दिव्य पुस्तक वेद आदिमें चली आरही है।

(१३४)–जिस प्रकार किसी चौड़ी फैली हुई वस्तुके कई विभाग कर दिए जावें तो प्रत्येक टुकड़ा अपनी समष्टिके बाहर नहीं जाता, किंतु उसके ही भीतर रहता है, इसी प्रकार क्या पशु क्या पक्षी और क्या मनुष्य आत्मासे भिन्न नहीं ह, सब एक वही हैं और प्रत्येक जीव (प्राणी) विराटसे अलग नहीं है, किंतु वही है, परंतु समष्ठि (प्रजापति) से जो बात होसकती है वह बात व्यष्टि(जीव) से नहीं होसकती, इस लिए मनुष्य तो असमर्थ है और प्रजापति तथा विराट सर्वशक्तिमान् है। और विशिष्टरूपसे मनुष्यमें भरी हुई आत्मा नेत्र कर्ण मन बुद्धि चित्त अहङ्कार आदि अनेक रूप वाली होजाती है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ भी विराटकी आत्मा है वह अनेक देवता रूपोंमें आया हुआ पूजनीय होता है और प्रत्येक देवता भिन्न२देवता कहलाते हैं।

(१३५)–जिस प्रकार दृष्टिशक्तिका प्रधान स्थान नेत्र है और श्रवण-शक्तिका कान है इसी प्रकार इन देवताओंके भी स्थान हैं और सबमें सब कुछ करते है जिस प्रकार नेत्र केवल रूपको ही दिखानेका काम करता है और कान शब्दको सुनानेका काम करता है, इसी प्रकार देवता भी अपने खास २ काम दुनियाँमें करते हैं एक दूसरेमें दखल नहीं देसकता, इन खास कामों और खास मकानोंके कारण उनको इनका देवता कहते हैं और इन्हींके नाम पर उनका लोक होता है।

(१३६)–इसका उदाहरण इस प्रकार है परमात्माका अंश सूर्यमें स्थित है और आँख तक फ़ैल कर दिखानेका काम करता है वही सूर्य देवता कहलाता है और परमात्माका जो अंश चन्द्रमामें स्थित है और हृदय कमल तक फैला हुआ है और सोच समझका खास काम करता है वही चन्द्रदेवता कहलाता है और वेदान्ती उसीको सूर्य और चंद्रमा

का अधिष्ठात्री देवता अथवा देखने वा सोचनेका अधिष्ठात्री देवता कहा करते हैं,ये सब अधिष्ठात्री देवता अपने खास २ काममें बँधे हुए हैं यद्यपि यह भिन्न २ रूपवाले हैं और इनके नाम भिन्न २ हैं किन्तु सब करनेवाली आत्मा प्रजापतिकी शाखाएँ हैं और शाखाएँ असलसे भिन्न नहीं होती किन्तु सबकी सब वृक्षस्वरूप होती हैं, इस लिये यह सब देवता भी विराटरूप हैं।

(१३७)–इसकी पुष्टिमें हमारे पास विज्ञानसम्मत बहुतसे प्रमाण हैं परन्तु हम उनको नहीं लिखते,क्योंकि—वह सूक्ष्म युक्तियें विज्ञानवेत्ताओंके अतिरिक्त साधारण मनुष्योंकी समझमें नहीं आसकतीं अत, हम वैदिक कथाओंका अनुवाद कर इस बातको स्पष्ट करेंगे। अब हम दो विद्वानोंके वार्तालापका वेदोंसे अनुवाद करते हैं इनमें एक सगुण विद्याका विद्वान् था अर्थात् इस करने वाली आत्माका जानने वाला था और ज्ञानी था और दूसरा इस देखने वाले आत्माको भी पहिचानता था पहिलेका नाम बालाकि था और वह गर्ग गोत्रमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण था दूसरेका नाम अजातशत्रु था और वह काशीका राजा था।

(१३८)–यजुर्वेदके आरण्यक भागमें लिखा है, कि-बालाकि नाम वाला ब्राह्मण जो गर्ग गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण गार्ग्य भी कहलाता था वह सगुणविद्याका बड़ा विद्वान् था और वह ब्रह्मको जानता था, वह अजातशत्रु काशीनरेशके यहाँ आनिकला और कहने लगा, कि—मैं आपको ब्रह्मका उपदेश देता हूँ। अजातशत्रुने कहा, कि—"मैं आप को ब्रह्मका उपदेश देता हूँ" इस बात पर ही मैं तुमको सहस्र गौएँ देता हूँ तुमने मुझसे ऐसा कहा, इस लिये तुम धन्य हो और मैं भी धन्य हूँ क्योंकि—मैं ब्रह्मको सुननेके लिये दान दे रहा हूँ।

(१३९)–राजाको श्रद्धावान् देखकर गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष सूर्यमें और नेत्रमें रहता है और उनका अभिमानी होकर नेत्रोंके मार्गसे चित्तमें आता है और कर्त्ता तथा भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ और उसीकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ और तुमसे भी कहता हूँ,कि-उसीका मनन करो।

(१४०)–राजाने शिर हिलाकर निषेध किया, कि—नहीं नहीं, वह ब्रह्म नहीं है आप इस विषयमें विवाद न करिये आपने जिसका उपदेश दिया वह तो एक उच्चश्रेणीका देवता है और शरीर तथा

शरीरधारियोंका सरताज है राजा है मैं भी उसीका मनन करता हूँ जो इसका मनन करता है वह श्रेष्ठ पदवीको पाता है और सब शरीर तथ शरीरधारियोंका सरताज होजाता है।

(१४१)-तब उसने कहा, कि—जो पुरुष चन्द्रमा और मनमें आया हुआ है उनका अभिमानी है और कर्त्ता भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ और तुमसे भी कहता हूँ, कि-उसीका मनन करो तब राजाने मस्तक हिलाया और कहा नहीं नहीं यह ब्रह्म नहीं है मैं इसको भी जानता हूँ यह भी एक बन्धनयुक्त श्रेष्ठ आत्मा है इसकी पोशाक सफेद है यह जलसे शरीरी बन कर उसमें तैरता रहता है और वृक्ष आदिके रूपमें आकर यज्ञोंमें काम आता है तब इसको सोम कहते हैं और वेदज्ञ ब्राह्मण इसीको सोमराज कहते हैं मैं इसीको चन्द्रमा लता यज्ञ और मनमें उनका अभिमानी जानकर उसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है उसके वंशकी प्रतिदिन उत्तरोत्तर वृद्धि हाती रहती है और दुग्ध पुत्र अन्न आदि सब कुछ उसके यहाँ रहता है और कभी घटता नहीं।

(१४२) तब गार्ग्यने कहा, कि—जो पुरुष बिजली मांस त्वचा और हृदयकमलमें व्यापक है और उनका अभिमानी होकर कर्ता भोक्ता है, मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ और उसीकी उपासना करता हूँ, और तुम से भी कहता हूँ, कि—तुम उसीका मनन करो।

(१४३)-तब राजाने शिर हिला कर निषेध किया और कहा; कि—नहीं नहीं, इसको भी मैं जानता हूँ यह भी एक तेजोमय देवता है और मैं इसीको बिजली चर्म और मनके भीतर देख कर इसको उन का अभिमानी और कर्ता भोक्ता मान कर इसकी उपासना करता हूँ, जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह भी तेजस्वी होजाता है और उसकी सन्तान भी तेजस्वी बन कर जीवन बिताती है।

(१४४)-तब गार्ग्यने कहा, कि—जो पुरुष बाहरी आकाश और हृदयाकाशमें व्यापक है और उनका अभिमानी तथा कर्ता भोक्ता है, मैं उसको ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ, और तुमसे भी कहता हूँ, कि—इसकी उपासना करो।

(१४५)-राजाने शिर हिला कर निषेध किया, कि—यह ब्रह्म नहीं है तुमने जिसका उपदेश दिया है, यह तो एक पुरुष है, यह सबमें

पुरा हुआ है और सब कुछ करता है और प्रत्यक्षमें नहीं उखड़ता है, मैं भी इसको भीतर बाहरके आकाशमें एक अभिमानी तथा कर्ता और भोक्ता मान कर इसकी उपासना करता हूँ, और जो इसकी इस तरह उपासना करता है वह भी सन्तान और पशुओंसे भरा पुरा रहता है उसका वंश कभी नष्ट नहीं होता।

(१४६)—तब गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष वायु श्वास और हृदय में भी रहता है और उनका अभिमानी तथा कर्ता भोक्ता है मैं उसको ही ब्रह्म मानता हूँ और उसीकी उपासना करता हूँ, तथा तुमसे भी कहता हूँ, कि—तुम उसीका मनन करो।

(१४७)—तब राजाने फिर शिर हिलाकर निषेध किया और कहा, कि–नहीं २ इसको भी मैं जानता हूँ यह एक बड़ी शक्ति वाला पुरुष है इसका नाम इन्द्र देवता है यह स्वर्गमें रहता इसने सबको जीता है और इसको किसीने नहीं जीता, इसकी सेना भी सर्वदा विजय पाती है मैं इसकी भी उपासना करता हूँ और भीतरी तथा बाहरी वायुमें इसको एक ही देखता हूँ जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह सर्वदा विजयी रहता है और उसका कोई पराजय नहीं करसकता।

(१४८)–तब गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष अग्नि वाणी और चित्त में व्यापक है उनका अभिमानी तथा कर्ता भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ तथा तुमसे भी कहता हूँ, कि–इसीका मनन करो।

(१४९)–तब राजाने शिर हिलाकर निषेध किया और कहा, कि-नहीं नहीं मैं इसको भी जानता हूँ यह एक देवता है और देवताओं का मुख है इसमें दी हुई आहुतिका सब देवता भक्षण करते हैं मैं इस को अग्नि वाणी और हृदयमें व्यापक जानता हूँ तथा इसको उनका अभिमानी और कर्ता भोक्ता जानकर इसकी उपासना करता हूँ जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह सबका मुख होजाता है और सब उसीके द्वारा खाते हैं उसकी सन्तान भी ऐसी ही होती है और सब उसके आश्रित रहते हैं।

(१५०)–तब गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष जल वीर्य और मनमें व्याप्त है—एक है—तथा उनका अभिमानी और कर्ता भोक्ता है मैं उस

को ब्रह्म मानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ तथा तुमसे भी कहता हूँ, कि—तुम इसीकी उपासना करो।

(१५१)–राजाने फिर शिर हिलाकर निषेध किया और कहा, कि—मैं इस विज्ञेय ब्रह्मको जानता हूँ इसको प्रतिरूप कहते हैं मैं इस को जल वीर्य और मनमें व्यापक तथा उनका अभिमानी कर्ता भोक्ता मान कर उपासना करता हूँ और जो पुरुष उसकी इस प्रकार उपासना करता है उसके वंशमें शुद्ध सन्तान उत्पन्न होती है अर्थात् उसके वंशमें व्यभिचार नहीं होता।

(१५२)–तव गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष दर्पण स्वच्छ वस्तु और चित्तमें व्याप्त रहता है तथा उनका अभिमानी और कर्ता भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ तथा तुमसे भी कहता हूँ उसीका मनन करो।

(१५३)–राजाने शिर हिलाकर फिर निषेध किया और कहा, कि–मैं इसको भी जानता हूँ यह मनको मोहने वाला एक देवता है मैं इसको दर्पण स्वच्छ वस्तु और हृदयमें एक अभिमानीतथा कर्ता भोक्ता जानकर इसकी उपासना करता हूँ जो इसकी इस प्रकार उपासना करते हैं वे दूसरेके मनको मोहित करनेवाले होजाते हैं और उनकी सन्तान भी चित्तको आकर्षित करने वाली होती है यह देवता चरित्र और सौन्दर्यका अधिष्ठात्री देवता है।

(१५४)–तव गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष युष्मत् अस्मत् और अध्यात्म प्राणमें रहकर जीवनका हेतु है और चित्तमें व्याप्त होकर भी कर्ता भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ तथा तुमसे भी इसकी उपासना करनेको कहता हूँ।

(१५५)–राजाने फिर शिर हिलाया और कहा, कि–नहीं नहीं मैं इसको भी जानता हूँ यह तो प्राण है मैं भी इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूँ जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह पूर्णायु होजाता है और बीचमें नहीं मरता है और भयंकर बीमारियें भी उसे पीड़ित नहीं करतीं।

(१५६)–तव गार्ग्यने कहा, कि–जो पुरुष दिशा कान और चित्त में व्याप्त रहता है तथा उनका अभिमानी देवता और कर्ता भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ और तुमसे भी कहता हूँ, कि—उसीका मनन करो।

(१५७)-राजाने फिर शिर हिलाकर निषेध किया और कहा, कि-यह ब्रह्म नहीं है मैं इसको भी जानता हूँ यह एक देवता है और स्त्री पुरुषके समान जोड़ा कहलाता है, इसको अश्विनीकुमार कहते हैं मैं इनको दिशा कान और मनमें व्याप्त रहने वाला तथा उनका अधिष्ठात्री देवता मानकर उनकी उपासना करता हूँ जो इनको दिशा कानऔर मनमें व्याप्त मानकर इनकी उपासना करता है उसकासर्वदा जोड़ा रहता है और वह अपने जोड़ेसे पृथक् नहीं होता।

(१५८)—तब गार्ग्यने कहा, कि—जो पुरुष पाञ्चभौतिक अन्धकार और अज्ञानमें एक रह कर मनमें अभिमानी और कर्ता, भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ तथा तुमसे भी कहता हूँ, कि—इसीकी उपासना करो।

(१५९)—राजाने फिर शिर हिलाया और कहा, कि—यह ब्रह्म नहीं है मैं इसको जानता हूँ यह एक देवता है और इसको यमराज कहते हैं मैं भी इसको पाञ्चभौतिक अन्धकारोंमें अज्ञानमें और मनमें एक जानकर उपासना करता हूँ जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है वह दीर्घायु होता है और नियत समय तक जीवित रहता है बीचमें नहीं मरता है।

(१६०)—तब गार्ग्यने कहा; कि—जो पुरुष प्रजापति बुद्धि और मनमें भी व्याप्त है उनका अभिमानी तथा कर्ता भोक्ता है मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ और उसीकी उपासना करता हूँ तथा तुमसे भी कहता हूँ, कि—इसीकी उपासना करो।

(१६१)—राजाने फिर शिर हिलाकर कहा, कि-यह भी ब्रह्म नहीं है तुम वाद विवाद न करो क्योंकि—मैं जानता हूँ, कि—यह भी एक बड़ा भारी देवता है सब देवता इसीकी शाखाएँ हैं हम इसीको हिरण्यगर्भ कहते हैं सर्वसाधारण मनुष्य इसीको ईश्वर कहते हैं यह विद्वानोंकी उत्कृष्ट बुद्धि और ज्ञानियोंका उत्कृष्ट ज्ञान हैमैं इसको प्रजापति बुद्धि और मनमें व्यापक देख कर तथा सबका अभिमानी और कर्ता भोक्ता मानकर इसकी उपासना करता हूँ जोइसकी इस प्रकार उपासना करता है वह बुद्धिमान् कहलाता है और उसकी सन्तान भी बुद्धिमान् होती है।

(१६२)—अब गार्ग्य चुप होगया और कुछ न बोला क्योंकि—

देवताओंमें जितने देवता हैं और लोकपाल हैं उन सबको उसने नियम पूर्वक बताया और उस उत्कृष्ट बुद्धिको भी प्रकट कर दिया जो ईश्वरका दर्जा है और यह सब देवता उसकी टहनियें हैं इन सबको ही विवेकपूर्वक हमने दिखाया परन्तु राजाने सबके लिये शिर हिला कर मना करदिया और साथमें उनकी उपासनाके फलको भी इस लिये कह दिया, कि-जिससे गार्ग्यको प्रतीत होजाय, कि-राजा इसे जानता है यह सब पूजनीय हैं और पृथक् २ भिन्न २ फल भी देते हैं परन्तु मोक्षके दाता नहीं हैं और कर्मके अधीन हैं। जो ज्ञानात्मा है वह कुछ नहीं करता केवल देखता रहता है और यह सब उसकी सेवा करनेवाले हैं वही वास्तविक ब्रह्म है इनको तो ब्रह्म कहा जाता है परन्तु यह वास्तवमें ब्रह्म नहीं हैं देवता हैं।

(१६३)-जब गार्ग्य इस प्रकार चुप होगया और आगेको कुछ न कहसका, तब राजाने कहा, कि-क्या तुम इतना ही जानते हो अथवा कुछ और अधिक जानते हो ? तब गार्ग्यने उत्तर दिया, कि-मैं तो यहाँ तक ही जानता हूँ और अधिक नहीं जानता, फिर गार्ग्यने कहा, कि-मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ आप मुझे बतलाइये, कि-इससे बढ़कर कौनसा ब्रह्म है।

(१६४)-राजाने कहा, कि-यह तो उलटी बात है, कि-ब्राह्मण शिष्य हो और क्षत्रिय गुरु हो, आप ही गुरु बने रहें मैं वैसे ही बतलाए देता हूँ। तब राजाने उसका हाथ पकडा और उसको साथमें लेकर राजभवनमें पहुँचा तहाँ पर एक मनुष्य गाढ़ निद्रामें सो रहा था। तब गार्ग्यने श्वेत वस्त्र पहिरने वाले जिन २ देवताओंका वर्णन किया था उन नामोंसे राजाने उस सोने वाले पुरुषको पुकारा किन्तु वह नहीं जागा फिर राजाने हाथसे जगाया, तब वह जाग उठा, इस प्रकार उसने सिद्ध कर दिया, कि-गार्ग्यका विचार ठीक नहीं है।

(१६५)-यहाँ पर सन्देह होसकता है, कि-सोए हुएके पास जाना उसको पुकारना तथा उसको हाथोंसे जगाना यह कैसे सिद्ध करता है, कि-गार्ग्यको विचार ठीक नहीं है ? उसका उत्तर यह है, कि-गार्ग्य तो अपने कहे हुए देवताओंको इस शरीरका स्वामी और इसमें कर्ता भोक्ता मानता था और राजाका यह अभिप्राय था, कि-सब देवता करनेकी शक्तियें हैं तथा दास हैं और इनका स्वामी तो

एक देखने वाला आत्मा ही है उसीके कारण यह काम करते हैं उस के विना यह सब वेकार होजाते हैं और कुछ नहीं जानते, यद्यपि करना उसका धर्म नहीं है तो भी उसके लिये जो यह सेवा करती हैं अतः अकेला वह ही इनका स्वामी है और शरीरमें भोक्ता है।

(१६६)-सोए हुए पुरुषके पास जाना इस लिये आवश्यक था, कि-जाग्रत्में करने वाली आत्मा और देखनेवाली आत्मा यह स्वामी और सेवककी समान दोनों आत्माएँ एक साथ मिल कर आँख नाक कानमें काम करती हैं।उस समय अज्ञानीको स्पष्टरूपसे यह भेद प्रकट नहीं होसकता, कि-इनमें वह आत्मा कौनसी है जो देखती है और वह आत्मा कौनसी है जो करती है ? क्योंकि-उनके अपने २ धर्म दूसरेके धर्म प्रतीत होते हैं। जो देखती है वह आप दिखाई नहीं देती और जो करती है वह दिखाई देती है परन्तु आप नहीं देखती, जाग्रत्में उसका देखना इसका देखना प्रतीत होता है क्योंकि-देखने वाली तो आप दिखाई नहीं देती फिर उसका देखना किस प्रकार समझा जावे ? जो करती हुई दिखाई देती है और उसमें प्रकट हुई एक होती है इस लिये उसका देखना भ्रमके कारण इसका देखना प्रतीत होता है।

(१६७)-निद्रामें करने वाली आत्मा तो आँख नाक कानमें वर्तमान रहती है, परन्तु देखनेको आत्मा उससे अलग होजाती है इस कारण सर्वसाधारण उसको निद्रामें अज्ञान (अनजान) का संसार कहते हैं। यहाँ यह विवेक होसकता है, करने वाली आत्मा अलग है और देखने वाली आत्मा अलग है। और यह सिद्ध है, कि-काम करना चाकरोंका धर्म है, स्वामीका धर्म नहीं है, और जिसके लिए किया जाता है, वह भोक्ता तथा स्वामी होता है।

(१६८) देखो,जब पहिरेदारकी वाणी काम करती है तो वाणीका भोक्ता पहिरेदार हीहोता है वाणीनहींहोती अथवा राजाकी सेना देश को जीतती है तो उसका भोक्ता और स्वामी राजा ही होता है, सेना नहीं होती।इसी प्रकार गार्ग्यने मनुष्यके शरीरमें जिन देवताओं को ब्रह्म बताया था, राजाने उनको करने वाली (आत्मा) देवता बता दिया अतः वे आत्माके सेवक हैं और देखने वाला आत्मा स्वामी है, उसीके भोगके लिए ये सब उसमें एकत्रित हुए हैं।

(१६९)-सोये हुए पुरुषमें स्थित उन देवताओंको पुकारनेका यह अभिप्राय था, कि—यदि वे देखते अथवा सुनते होते तो बुलानेसे उत्तर देदेते, क्योंकि-जिसको जिसके नामसे बुलाया जाता है वह उत्तर देता है और वे तो आत्माके विना शवकी समान जड़ होजाते हैं अतः वे बुलानेसे उत्तर न देसके और उनका स्वामी आत्मा जो सबका जीवन है, जब वह उसमें आजाता है तब वे सब काम करने लगते हैं और उसका इन देवताओंमें आना वास्तवमें जाग्रत् दशा है। और श्रुतिमें लिखा है, कि-देवताओंका नाम लेनेसे वह सोया हुआ नहीं जागा।

(१७०)-यहाँ पर यह सन्देह नहीं करना चाहिये, कि-"जिन देवताओंका नाम लेकर सोये हुएको पुकारा गया था, वह भी सोए हुए थे, इस लिए उन्होंने उत्तर नहीं दिया" क्योंकि-गार्ग्य उन देवताओंको नित्य कर्ता और भोक्ता मानता था और समझता था, कि—ये शरीरमें मृत्युपर्यन्त अपना काम करते रहते हैं (परन्तु जो थक कर निर्बल होजाता है वह ब्रह्म नहीं होसकता) परन्तु गार्ग्य उनको ब्रह्म मान कर उनकी उपासना करता था।

(१७१)—इस प्रकार सोये हुएके पास लेजाकर राजाने उसको विश्वास दिलाया, कि-करने वाले देवता आत्माके सहायक ही हैं, भोक्ता नहीं हैं। क्योंकि-यदि ये स्वयं भोक्ता होते तो जब वे बुलाये गए थे तब भी वचनको भोगते। क्योंकि-यह नियम है, कि-जिसका जो भोग होता है, यदि वह उसको मिलता है तो भोग लेता है,। देखो ! अग्निका कार्य जलाना और प्रकाश करना है जब उसमें कोई तिनका फेंक दिया जाता है, तो वह उसको उसी समय जला देती है और प्रकाश फैला देती है। यदि वे देवता स्वयं ही सुनते समझते होते तो बुलानेसे वाणीको सुनते और समझनेका प्रकाश फैलाते परन्तु ऐसा नहीं हुआ, अतः जिस प्रकार तिनका फेंकनेसे न जलने पर यह सिद्ध होता है, कि-यह अग्नि नहीं है, इसी प्रकार वाणीके न सुननेसे निश्चय होता है, कि-गार्ग्यके पूजनीय वचन-वाणी-के स्वयं ही भोक्ता नहीं हैं। जिस प्रकार वह वाणीके भोक्ता नहीं हैं, इसी प्रकार देखने चखने सुनने आदिके भी भोक्ता नहीं हैं। सब भोग देनेके लिए चाकर और यंत्र हैं तथा जो पूजनीय और भोक्ता है, वह इनसे भिन्न है और वही वास्तवमें पूजनीय है।

(१७२)-देखो! जिस प्रकार सोये हुएमें वाणी सुनाई नहीं देती, दीखने वाली वस्तुएँ भी यद्यपि पास रक्खी होती हैं, परन्तु दिखाई नहीं देतीं और इसी प्रकार गन्धकी वस्तुएँ भी पास होती हैं, परन्तु सूँघी नहीं जाती, ऐसे ही मुखमें यदि कोई वस्तु डालें तो न वह स्वाद देती है और न वह खाई जाती है, इस लिए साधारण पुरुषों को पूर्णरीतिसे विश्वास होसकता है, जिस प्रकार पत्थर भोक्ता नहीं होता, इसी प्रकार करने वाले देवता स्वयं भोक्ता नहीं हैं और जिस प्रकार फेंका हुआ पत्थर भी चोट देता है, उसी प्रकार ये करने वाले देवता भी इसी प्रकार चैतन्यके चलाने पर चलते हैं और काम करते हैं, वास्तवमें वे पत्थरकी समान जड़ हैं, जिस प्रकार (पत्थर के भीतर उपास्यमान चेतन आत्माको न मान कर) पत्थरको ही पूजनीय मानना जड़को पूजनीय मानना है इसी प्रकार करने वाले आत्माको ईश्वर मानना भी जड़को ईश्वर मानना है, क्योंकि-क्या शरीर क्या देवता और क्या इन्द्रिय आदि सबके सब ईश्वरके अतिरिक्त बद्ध ब्रह्म हैं।

(१७३)-यहाँ पर यह सन्देह भी नहीं करना चाहिये, कि--"यद्यपि उन देवताओंका नाम लेकर सोये हुएको पुकारा गया था, परन्तु जागते हुए मनुष्यको बुलाया जाय और उसका ध्यान दूसरी ओर हो तो वह नहीं सुनता, तब यह निर्णय नहीं किया जासकता, कि--यह सुननेका भोक्ता नहीं है और यह प्रमाणित होता है, कि--उसका ध्यान उस समय नहीं था इसी प्रकार यहाँ भी होसकता है, कि--करने वाले देवताओंको उस समय ध्यान न हो और उन्होंने वाणीको पाने पर सुना परन्तु भोगा नहीं"।

(१७४)--क्योंकि-गार्ग्यने उनको समझ बूझ कर ईश्वर बताया है, और यह हो नहीं सकता, कि--ईश्वरका स्मरण किया जाय तो वह सुने नहीं ? अन्यथा पूजा पाठ करना और पूजाके समय उससे कुशलमङ्गलकी प्रार्थना करना व्यर्थ होगा, मनुष्यमें तो लापरवाही होसकती है, परन्तु ईश्वरमें लापरवाही और आलस्य नहीं होसकता यह गार्ग्यका सिद्धान्त है अतः उसके विषयमें ऊपर छापा हुआ विचार ठीक नहीं होसकता।

(१७५)-यहाँ पर यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, कि--"आत्मा

भी तो बुलाने पर सोये हुएमें उत्तर नहीं देता है तो करने वाले आत्मा (देवताओं) पर यह दोष कैसे आसकता है ?" क्योंकि-वहाँ गार्ग्यके पूज्य देवताओंका नाम लेकर बुलाया गया है, अतः वह क्यों उत्तर देता ? यद्यपि यह देवता-इन्द्रियें-उसकी चाकर और प्रकट करने वाली हैं और वह इन सबमें अभिमानी और कर्ता भोक्ता तथा स्वामी है तथापि मनुष्यको अंगुलि अथवा हाथके नामसे बुलाया जाय तो वह उत्तर नहीं देता, इसी प्रकार यह देवता भी अङ्ग तथा यन्त्रोंके समान हैं, तब उनके नामसे कैसे उत्तर देय ? इसी कारण करने वाले आत्मा (देवता) के नामसे राजाने उसको बुलाया और जगाया, परन्तु वह न जगा।

(१७६)-गार्ग्यके मनमें तो यह देवता कर्ता भोक्ता तथा स्वामी हैं परन्तु इस समय चैतन्य-आत्मा-से पृथक् होते हैं, अतः सुनते समझते नहीं, अतः प्रमाणितहोता है, कि-करने वाले आत्मा (देवता) चाकर और दास तो हैं, परन्तु भोक्ता नहीं हैं। यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, कि-'करनेकी शक्तियें यद्यपि देवता हैं तथा सर्वसाधारणमें उनको देवता नहीं कहा जाता परन्तु इन्द्रिय और प्राण कहा जाता है, अतः प्रसिद्ध नामसे न बुलानेके कारण उन्होंने नहीं सुना" क्योंकि--गार्ग्यने कहा था, कि-जो चन्द्रमा और मनमें है वही चन्द्रदेवता है और वही स्वामी है; अतः जब उपासना करने वाला तक उनको पहिचानता है, तो क्या वे अपने नामोंको नहीं जानते ? वह जानते तो अवश्य हैं;परन्तु जिसके कारणसे उनमें जानने की शक्ति होती है, वह ज्ञानात्मा उस समय उनमें प्रकट नहीं था,इस कारण वह न जान सके, अतः वे सब मुर्दा और जड़ हैं।

(१७७)-यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, कि-"उस समय आत्माका नाम लेने पर भी तो आत्मा नहीं सुनता" क्योंकि-- राजाने तो आत्माको कर्ता भोक्ता माना है और वह उस समय स्वप्नके भोगों को पा रहा था और जाग्रत्के भोग देने वाले यन्त्रोंसे उसने सम्बन्ध छोड़ दियाथा,इसी कारण सर्वसाधारण उसको सोता हुआ कहते हैं, फिर सोता हुआ किस प्रकार सुने !

(१७८)--परन्तु प्राण देवता तो उस समय भी नहीं सोता है और अपना कार्य करता है, देखो ! वह श्वास लेता रहता है, यदि

सोचना समझना उसका स्वभाव होता तो वह अवश्य ही वाणीका भोग पाता, परन्तु वह वाणीका उपभोग नहीं करता, अतः निश्चय होता है कि--वह करनेका यन्त्रमात्र है, और कर्ताके चलाने पर इस प्रकार चलता रहता है, जिस प्रकार एक चलाई हुई घड़ी बराबर चलती रहती है परन्तु वह कुछ सुनती समझती नहीं, अतः जड़ है।

(१७९)--यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, कि--"गार्ग्यने तो भिन्न २ देवता और उनके भिन्न २ नाम तथा पृथक् २ फल कहे थे और स्वयं राजाने भी उत्तरमें कहा था, कि--प्रत्येक देवता अपने मुख्य २ नामके पुकारे जानेसे समझ जाता है, परन्तु यहाँ पर राजाने एकका मुख्य नाम नहीं, किन्तु सबका नाम लेकर उनको बुलाया था, अतः वह कुछ समझमें न आनेके कारण नहीं बोले" क्योंकि--यह शंका तो अज्ञता से भरी हुई है। क्योंकि--गार्ग्यका तात्पर्य भिन्न २ ईश्वरसे नहीं था, किन्तु एक प्राणात्मा (रूह आज़म) के ही भिन्न२ कार्य और नामोंसे था, ऐसा तो कोई विद्वान् नहीं है, जो बहुतसे ईश्वर मानता हो।

(१८०)--हमने कर्मकाण्डमें इसका वर्णन किया है, कि-विदग्ध शाकल्यके पूछने पर याज्ञवल्क्यजीने पहिले तैंतीस देवता बताये, फिर संक्षेप करते २ एक ही प्राण देवता रक्खा, इस लिये करने वाला आत्मा एक है, उसको सर्वसाधारण ईश्वर कहते हैं, और वही भिन्न २ कार्य करके भिन्न २ देवता कहलाता है,परन्तु यहाँ यह समझना चाहिये, कि--देखना करने वाले आत्माका धर्म नहीं है और आत्माके प्रतिबिम्बसे उसमें देखना आता है और चेष्टा करनेमें भी वह स्वाधीन नहीं है, किन्तु जिस प्रकार चुम्बक पत्थरके कारण लोहे में चेष्टा उत्पन्न होजाती है, इसी प्रकार उसमें भी श्वास फूकनेसे चेष्टा उत्पन्न होजाती है। जो सर्वसाधारण उसको हर्ता कर्ता और भोक्ता मानते हैं, वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि--यद्यपि वह करनेका यंत्र है तथापि वह बन्धन वाला और जड़ है।

(१८१)--देखना देखने वाली आत्माका स्वाभाविक धर्म है करना और पहचान उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है तो भी इस दास की सेवा उससे सम्बन्ध पाजाती है और वह इन दूसरोंके कर्मोंसे हर्ता कर्ता भोक्ता होजाता है। जिसको निर्गुण कहते हैं वही स्वामी

और वही स्वतन्त्र है और उसीकी पहचान पर मुक्ति निर्भर है।

(१८२)--ठीक तो यह है, कि--यही आत्मा ईश्वर है किन्तु देखना इसका निजी धर्म है और कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि दूसरेके धर्म अर्थात् औपाधिक धर्म उसमें कल्पित हैं जो ईश्वरको नित्यकर्ता और नित्य भोक्ता मानते हैं वह वास्तवमें गलती करते हैं क्योंकि--वे तो इस करनेकी आत्माको ही ईश्वर मानते हैं और आत्माके देखने के धर्मको जो, कि--इसीमें कल्पित है इसीका समझते हैं इस लिये इसको अकर्ता अभोक्ता और मायासे कर्ता भोक्ता मानते हैं।

(१८३)--अब कोई साधारण मनुष्य यह पूछे, कि--राजाने उस को हाथसे हिला २ कर क्यों जगाया और जोरसे क्यों पुकारा तो इसका उत्तर यह है, कि--जिस प्रकार तिनकोंको अग्नि पर रख कर इस लिये हिलाते हैं और फूँकते हैं, कि--जिससे दूसरी अग्नि तिनकों पर प्रकाशित होजाय, इसी प्रकार हिलाने और जोरसे बुलानेका यह तात्पर्य था, कि--यह चाकर देवता जो गार्ग्यके पूज्य हैं वे चेतन आत्मा से प्रकाशित होजायँ और मेल पाजायँ वह मेल पागए इस लिये वह सोया हुआ जाग उठा और उसके आने पर सोचने समझने लगा तथा राजासे बात चीत करने लगा।

(१८४)--राजाका अभिप्राय यह था, कि-इन करने वाले देवताओं के अतिरिक्त एक शुद्ध आत्मा है वह प्रकाशस्वरूप है उसके कारणसे यह करने वाले देवता काम करते हैं और वह शुद्ध आत्मा तो कुछ नहीं करता सर्वदा आनन्दमें रहता है इसकी सेवासे उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म कल्पितरूपमें आजाता है जिस प्रकार बहुत दूर पहुँचे हुए मनुष्यको जोरसे पुकारने पर भी वह मनुष्य नहीं सुनता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी इनसे बहुत दूर था और शब्दको न सुन सका अत एव सोए हुएको राजाने इस लिये हाथसे जगाया, कि--देवता उससे प्रकाशित होजायँ।

(१८५)--इन बातोंसे यह तात्पर्य निकला, कि--जो देखने वाला आत्मा है वह कुछ नहीं कर सकता तथा सर्वदा आनन्दमें रहता है क्योंकि--करनेका नाम ही दुःख है और जो स्वामी है वह दुःख नहीं पाता दुःख तो करने और चलने वाले दासोंको होता है जिसके लिये यह चाकर सेवा करते हैं और चलते हैं सब कल्पित भोग उसीके हैं

इस लिये यह सब करने वाले देवता यन्त्रकी समान हैं और दास हैं और करने वाला आत्मा इन सबमें सरदार तथा निर्गुण है और इन में आकर वह कर्ता भोक्तासा प्रतीत होता है तब भी वास्तवमें न वह कर्ता है न वह भोक्ता है और इनके कामोंका साक्षी तथा आनन्दमय है यही वास्तविक अपना आपा है इसीसे हम इसको अपने आत्मा नामसे कहते हैं।

(१८६)--यह आत्मा यथार्थमें एक है विकारवान् नहीं है और करने वाला आत्मा तो विकारवान् है टहनियोंकी समान फैलता है तब भी यह उसमें प्रत्येक स्थान पर प्रकाशित होजाता है। जिस प्रकार वह सोये हुएमें जगानेके समय प्रकाशित हुआ था, इसी प्रकार वह जागते हुए दूसरे मनुष्योंमें भी प्रकाशित है और इसी प्रकार चन्द्र-लोक तथा सूर्यलोक और ब्रह्मलोकमें जहाँ २ यह करने वाला आत्मा फैला हुआ है तहाँ सबमें प्रकाशित होकर उसमें उनके कार्योंके कारण से कर्ता भोक्ता होता है।

(१८७)--मनुष्यमें जितने भोग देनेके लिये यह करने वाला आत्मा कर्मोंके बन्धनसे सूक्ष्मरूपसे खुला हुआ है उतने मानुषी भोग इसीके हैं, और देवताओंमें जितने अधिक भोगोंके लिये खुला हुआ है देवताओं के वे भोग भी इसीके हैं और ब्रह्मलोकमें उत्तम पुण्योंके कारणसे सत्संकल्पके रूपमें प्रकट होता है तहाँके सत्संकल्पके भोग भी इसीके हैं, वास्तवमें यही मनुष्य और यही प्रजापति है तब भी प्रजापतिके लोकमें यह आत्मा इस करने वाले आत्मा (जीवात्मा)के कारण सत्-संकल्प आदि भोगोंको पाता है और मनुष्यमें इसीके कारणसे असत्-संकल्प आदि भोग पाता है वास्तवमें तो अकर्ता अभोक्ता स्वयं द्रष्टा और स्वयं आनन्द है, परन्तु अज्ञ पुरुष इन सत्संकल्प आदि उपाधियों से उसको ईश्वर और असत्संकल्प आदि उपाधियोंसे मनुष्य मानते हैं और इन्हीं उपाधियोंसे उसको बन्धन वाला मानते हैं किंतु वह इन के बन्धनके वशमें नहीं है इसका प्रमाण यह है, कि--निद्राके समय वह इनके बन्धनोंसे हट जाता है वही परमस्वतंत्र है यह बात गार्ग्यको राजाने बतायी।

(१८८)-और यह करने वाला आत्मा तथा शरीर हवेलीकी समान बनाए जाते हैं शरीरके बिना यह प्राणात्मा कुछ नहीं कर सकता

और प्राणके बिना शरीर स्थित नहीं रहसकता जिस प्रकार खम्भोंके आश्रयसे हवेली स्थिर रहती है इसी प्रकार इस करने वाले आत्माकी शरणमें स्थिर रहता है जिस प्रकार खम्भोंके निकलनेसे हवेली गिर-जाती है इसी प्रकार इस करने वाले आत्मा (प्राण) के बखडनेसे शरीर भी गिर जाता है, इससे विदित होता है, कि--कर्म करनेवाले सब देवता खम्भोंकी समान इस हवेलीके भाग हैं।

(१८९)-यह बात स्पष्ट है, कि—जो हवेली आदि, संघातसे तयार होता है वह हवेली या उसके भागके लिये नहीं होता और दूसरेके लिये होता है जो उसमें रहता है वह उसमें वास करनेका भोग पाता है इस बातको कोई भी विद्वान् नहीं मानता, कि-हवेली अथवा उसका कोई भाग उसके भागका अथवा हवेलीका भोग है परन्तु जो हवेलीका या संघातका भाग नहीं होता है अर्थात् इन सबसे भिन्न जो मनुष्य है वह उनका भोग है जब प्राण अथवा करने वाले देवता इस संघातका भाग हैं इस लिये यह करने वाली शक्तियें (देवता) भोक्ता नहीं हैं और वही आत्मा जो संघातका भाग नहीं है इन सबसे भिन्न है वह इन सबका कर्ता भोक्ता है.

(१९०)-यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, कि--आत्मा भी तो संघातमें आया हुआ है फिर उसको भी संघातका भाग क्यों नहीं मान लिया जाता क्योंकि--राजाने उसको हाथसे जमाया था और उसमें बुलाया था यदि संघातके भीतर सम्मिलित होता तो वह उससे क्यों निकल जाता और फिर क्यों उसमें आजाता ?

(१९१)-देखो ! जब मनुष्य हवेलीमें आता जाता है तो वह हवेलीका भाग नहीं होजाता क्योंकि—जब तक हवेली मौजूद रहती है तब तक उसका कोई भी भाग उससे अलग नहीं होसकता इस लिये मनुष्य हवेलीके संघातका अंश नहीं और उसका स्वामी तथा भोक्ता है। आत्मा भी निद्रामें इस संघातसे निकल जाता है और जाग्रत्में आजाता है परन्तु करने वाली आत्मा उसका भाग है और जीवन भर उससे अलग नहीं होता अत एव यह प्राण और देवता इसके स्वामी वा कर्ता भोक्ता नहीं हैं और जो निद्रामें इससे निकल जाता है और जाग्रत्में आजाता है वही इसका स्वामी और कर्ता भोक्ता है और इससे असंग है।

(१९२)—दूसरा कारण यह है कि-भोग कर्मोंके कारणसे होता है संघातका संघातसे अथवा संघातके भागका संघातसे अपने कर्मों से कुछ सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु वही सम्बन्ध होता है जो भाग को संघातसे होता है जब तक कर्मोंका भोग रहता है तब तक आत्माका सम्बन्ध भिन्न २ प्रकारका होता है जब उसको जाग्रत् के भोग पाने होते हैं तो जागता है जब निद्राके भोग पाने होते हैं तो सोजाता है और जाग्रत्में भी अनेक प्रकारके भोग भोगने पडते हैं कभी दुःख कभी सुख कभी मोह कभी विवेक कभी पुण्य और कभी पापके सम्बन्ध वाले भोग दिखाई देते हैं परन्तु भागका सबसे एक ही प्रकारका सम्बन्ध होता है भिन्न २ नहीं होता ।

(१९३)-देखो क्या मकानकी छत क्या दीवारें क्या दीवारकी ईंटें तथा क्या खम्भे हवेलीके साथ आपसमें जुडनो ही एक सम्बन्ध है इसके अतिरिक्त और कुछ सम्बन्ध नहीं है परन्तु मनुष्यका उसमें बैठना सोना खाना पीना शीतल और उष्ण वायुका सेवन करना कभी इस कमरेमें कभी उस कमरेमें आना जाना इस प्रकार भिन्न २ सम्बन्ध हैं अतः मनुष्य भोका है और हवेली भोग और शरीर तथा करने वाले देवता भी जिनका गार्ग्यने वर्णन किया है वह उससे एक ही प्रकारका सम्बन्ध रखते हैं आत्मा भिन्न २ कर्मोंका सम्बन्ध रखता है इस लिये भी प्राण तथा देवता कर्ता भोक्ता नहीं हैं और देखने वाला आत्मा ही उनका स्वामी तथा कर्ता भोक्ता है ।

(१९४)-फिर खम्भे आले लकडी दरवाजा आदि जो हवेलीके भाग हैं उनका उनके कर्मोंके कारण जन्म नहीं होता है वे सब मनुष्य के लिये ही बनाए जाते हैं और मनुष्य अपने परिश्रमके कारण उसमें भोग पाता रहता है मनुष्य उसको अपने आप ही परिश्रम करके बनाता है और दूसरोंको द्रव्य देकर भी तयार कराता है अथवा किराये पर लेकर उसको वर्तता है मकान सब प्रकार मनुष्योंके कर्मोंसे ही तयार होता है, इस कारण शरीर अथवा प्राण जो करने वाला देवता है उसकी अपने कर्मोंसे सत्ता नहीं होती और आत्माके कर्मोंसे बनाया जाता है इस लिये इन सबका स्वामी तथा कर्ता भोक्ता भी आत्मा ही है प्राण अथवा इन्द्रिय नहीं है ।

(१९५)-हर प्रकार इसमें देखता सुनता जानता मानता आत्मा

ही है, और करने वाला आत्मा (प्राणात्मा) सुनता जानता मानता अथवा देखता नहीं है और जिस प्रकार हवेली हवेलीके भाग उसका धन और उसके यंत्र आदि भी मनुष्य (करने वाली आत्मा) के यंत्र आदि हैं और वे कुछ देखते सुनते जानते पहिचानते नहीं हैं, इस लिए वह हवेलीके भोक्ता नहीं होसकते उनका भोक्ता तो जानने पहिचानने वाला मनुष्य ही है और यही उसका स्वामी है, इसी प्रकार मनुष्यमें क्या शरीर और क्या भीतरी इन्द्रिय-प्राण आदि सब करनेके यन्त्र हैं, कोई तो चलनेका काम करते हैं, कोई पकड़नेका काम करते हैं, कोई देखनेका काम करते हैं, कोई सुननेका काम करते हैं, कोई सोच समझका अथवा ध्यान पहिचानका काम करते हैं, इनमेंसे कोई भी यंत्र अपने आप नहीं जानता इस लिए यही इन सबका कर्ता भोक्ता है:

(१९६)-यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि-"चैतन्यमय मनुष्य जिस प्रकार हवेलीका कर्ता तथा भोक्ता होता है, इसी प्रकार चैतन्ययुक्त सुनने समझने वाले देवता आदि भी भोक्ता होसकते हैं।" इसका समाधान यह है, कि—सोये हुए मनुष्यमें जो देवता अथवा करनेकी शक्तियें रहती हैं चैतन्य भोक्ता उनसे पृथक् होता है इसलिये वह उस समय चैतन्ययुक्त नहीं थे अतः वह कर्ता भोक्ता नहीं होसकते जाग्रत्में जब वह चैतन्यसे युक्त हो जाते हैं तब उनको भी भोक्ता कहते तो हैं परन्तु चेतन ही भोक्ता है चेतन वाले भोक्ता नहीं होसकते।

(१९७)-अविद्या और भ्रमके कारण ही पुरुष चैतन्य वालेको भोक्ता और कर्ता जानते हैं इसी प्रकार सर्वसाधारण मनुष्य भी मनुष्य को ही हवेलीका भोक्ता जानते हैं परन्तु मनुष्य भी इस आत्माकी पहली हवेली है और फिर उसके द्वारा बाहरकी हवेली तथा सब संसाररूप हवेली इसी आत्माके भोगके लिये तयार हुई है, सबका स्वामी और सबका भोक्ता यही चैतन्य आत्मा है, कि-परन्तु यह नियम है पहिले उस का शरीर उसका भोग होता है फिर उसका घर तथा सब संसार उसका भोग होता है अत एव उदाहरणमें कहनेके लिये ही मनुष्यको हवेलीका भोक्ता बतलाया है क्योंकि—प्राणी उसको अविद्याके कारण चेतन वाला और भोक्ता समझते हैं वास्तवमें सर्वसंसारका भोक्ता यह आत्मा ही है और कोई नहीं है।

(१९८)-यद्यपि सारा संसार इसीका भोग है, परन्तु आदद्या,

और कर्मोंके बंधनमें पड़ कर वह कुछ भोग पाता है और कुछ भोगों को नहीं पाता, और बहुतसे भोगोंको चाहने पर भी नहीं पाता, तब अपनेको पराधीन समझता है और जब वह विद्यायुक्त होजाता है तब अपने आपको इन देवता अथवा इंद्रिय तथा कर्मोंके बंधनसे स्वतन्त्र देखता है (क्योंकि-निद्रामें उसमें कोई भी बन्धन नहीं रहता) फिर यह सबका भोक्ता होजाता है इस प्रकार अविद्या और कर्मोंके कारण से यही बद्ध होजाता है और विद्याके कारण यही गुणरहित स्वतन्त्र होजाता है और स्वतन्त्र होने पर कर्ता होता हुआ भी अकर्ता अभोक्ता होता है।

(१९९)-जब यह विद्या प्राप्त करके अपने अकर्ता अभोक्ता नित्य-मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूपको जान जाता है तब प्रारब्धका अंत होने तक ही देर रहती है फिर तो वह सबमें सब कुछ होकर सबका स्वामी सबका भोक्ता और सत्संकल्प होजाता है, इस प्रकार राजा अजातशत्रुने गार्ग्यको सोये हुए मनुष्यके पास लेजाकर हाथसे हिला डुला कर करने वाले आत्मा और देखने वाले आत्माका भेद दिखाया था, कि-यह इन्द्रियें अथवा देवता जो करनेकी शक्तियें हैं बद्ध जड़ तथा अनात्म हैं पूजनीय नहीं हैं और देखने वाला आत्मा जो हाथसे जगानेमें इनमें प्रकट होगया वह इनसे भिन्न असंग अकर्ता अभोक्ता और आनन्दरूप है और इनमें आकर सबका कर्ता भोक्ता और स्वामी है।

(२००)-यही तेरा आत्मा है और यही पूजनीय है तथा यही स्वामी है और सब तो सेवा करने वाले देवता हैं अविद्या के कारण सेवा करने वाले आत्माको सर्वसाधारण ईश्वर और पूजनीय जानते हैं किन्तु वह करनेकी शक्ति है और इसी के लिये सब कुछ करती है उसमें प्रकाशित होने वाला यह आत्मा ही स्वतन्त्र ईश्वर है और उसके भीतर आकर बद्ध नाम पाता है, बस वही सगुण है वही निर्गुण है वही बन्धनवाला है वही स्वतन्त्र है, यह बन्धन और यह शरीर उसीकी चमक हैं अपनी ही चमकमें बंधन-युक्त हुआसा संसारी और बंधन वाला कहलाता है वास्तवमें न वह बंधनयुक्त है न संसारी है, अविद्याके कारण अपनी चमकको पूजनीय कमानर आप ही मनुष्य बन जाता है यही उसकी माया है।

(२०१)-जब राजाने इस प्रकार सोये हुए मनुष्यको हाथसे जगाया और वह उठा तो गार्ग्यसे कहने लगा क्या तुम जानते हो, कि—यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ सोरहा था और कहाँसे आगया ? तब गार्ग्यने कहा, कि-मैं नहीं जानता, कि-यह कहाँ था, और अब कहाँसे आगया।

(२०२)-तब राजाने कहा, कि-यह देखने वाला आत्मा विज्ञानमय पुरुष सोनेके समय करने वाली शक्तियोंसे (इंद्रियों) को विज्ञान से ग्रहण करके हृदयाकाशके भीतर जाकर सोगया था जब वह इस प्रकार अपने सिंहासन हृदयाकाशमें पहुँच जाता है तो यह कहा जाता है कि-वह सोरहा है। वास्तवमें यह सोता नहीं है किंतु इन करने वाली इन्द्रियोंका व्यवहार नहीं करता है और उनकी शक्तियें इसके साथ चली जाती हैं, इस लिये कहा जाता है, कि-वह सूँघने बोलने-देखने-सुननेकी शक्तियोंको तथा मनकी शक्तियोंको अपने साथ लेगया, यहाँ पर विदित हो सकता है, कि-वह वास्तवमें अकर्ता अभोक्ता द्रष्टा और आनन्द मात्र है, इनके साथ मिलने पर संसारी और बद्ध होजाता है तथापि यह बंधन उसको बाँध नहीं लेते यदि बाँध लेते तो निद्रामें उनसे सरलतापूर्वक किस प्रकार पृथक् होजाता।

(२०३)-हे गार्ग्य ! इस ज्ञानसे सिद्ध होता है, कि—वह तेरा आत्मा है क्योंकि-तू उसके सोनेकी पहिचान करता है, मैं सोगया और जब वह फिर इन कर्मेन्द्रियोंका वर्ताव करने लगता है तो फिर विश्वास होने लगता है, कि—मैं सूँघता हूँ बोलता हूँ, सुनता हूँ, सोचता हूँ, और समझता हूँ और यह सब गुण दूसरेके हैं, तुझमें औपाधिक रूपसे कल्पित होते हैं, इन कल्पित कार्योंके समय भी तू वास्तविक कर्ता और भोक्ता नहीं होजाता, तब भी जैसे सेना लडती है तो यही कहाजाता है कि-राजा लडता है, इसी प्रकार तू भी कर्ता भोक्ता होजाता है क्योंकि—तेरे बिना और कौन कर्ता भोक्ता हो सकता है ? शिल्पकार यन्त्रोंसे किसी वस्तुको बनाता है तो यन्त्र कर्ता नहीं होजाते किन्तु जिसके द्वारा यन्त्र कार्य करते हैं वही कर्ता होता है।

(२०४)-इस प्रकार दूसरी (रूह) इन्द्रिय आदिके कार्योंसे तू कर्ता भोक्ता संसारी बन्धन वाला अथवा सगुण ब्रह्म है परन्तु स्वरूपतः

ज्योंका त्यों निर्गुण असङ्ग मुक्त तू ही है और दूसरी सब शक्तियें तेरी सेवा करने वाली हैं, यही आत्मा है, यही परब्रह्म है, इससे अधिक और कुछ नहीं है ।

(२०५) देखो यदि यह करने वाली शक्तियें (इन्द्रियें) उसको वास्तवमें कैद कर लेतीं तो जिस प्रकार कैदीके बन्धनको न खोला जाय तो छूट नहीं सकता इसी प्रकार यह भी नहीं छूटता, और यह तो इन बन्धनोंके हाने पर भी निद्रामें इस प्रकार बन्धनरहित होजाता है कि—यह कभी बन्धनमें पडा ही नहीं था और जब स्वप्न अथवा जाग्रत्में सैर करता है तो इन उपाधियोंमें बन्दसा प्रतीत होता है, परन्तु उस समय भी यह बद्ध नहीं होता किन्तु मुक्त और स्वतन्त्र ही रहता है ।

(२०६)—देखो जब यह स्वप्नमें पहुँचता है तो स्वप्नकी (मलकूती) सैर करने लगता है यहाँ कभी बडे भारी राजाकी समान होजाता है, कभी ब्राह्मणकी समान होजाता है, कभी निर्धन होजाता है, कभी धनवान् होजाता है, इस प्रकार भिन्न २ प्रकारके औपाधिक धर्मोंको पाकर उनके धर्मोंसे धर्मवाला सा प्रतीत होता है, स्वप्नमें उनको अपने धर्म मानता था परन्तु जाग्रत्में आकर समझने लगता है कि—इन सब स्वप्नके कल्पित धर्मोंको मैं देख रहा था, इस प्रकारकी पहिचानसे सिद्ध होता है, कि—वह स्वप्नमें जाकर स्वप्नकी सैर करता है परन्तु उनके बन्धनमें नहीं पडता है ।

(२०७)—वह जाग्रत्में आकर जाग्रत्की (नासूती) सैर करता है, क्योंकि—जिस प्रकार स्वप्नका संसार उसका स्वप्नका इलाका है इसी प्रकार जाग्रत्का संसार उसका जाग्रत्का इलाका है, यहाँ पर भी इन्द्रियोंके बन्धनमें पडकर वह बन्धनयुक्तसा होता है, परन्तु वास्तव में कैद नहा होता, और जिस प्रकार स्वप्नमें संकल्पके बंधनके कारण कल्पित भोगोंको पाता है इसी प्रकार जाग्रत्में इन्द्रियोंके बंधनमें पड़कर इन्द्रियोंके कल्पित भोगोंको पाता है, और उन बन्धन तथा बंधनों के भोगोंमें आसक्त नहीं होता और इसी प्रकार असंग रहता है जिस प्रकार स्वप्नके संसारमें स्वप्नकी सैर करता हुआ असंग रहता था इसी प्रकार जाग्रत्में भी असंग रहता है ।

(२०८)—जाग्रत् और स्वप्नके बंधन उसको बाँधते नहीं हैं, यदि

किसीको कैद कर लिया जाय तो उसको दूसरे लोकोंकी सैर करने को नहीं मिल सकती, परंतु यहाँ पर तो यह स्पष्ट हैं कि—वह चक्रवर्ती राजाकी समान स्वतंत्र होकर जाग्रत् और स्वप्नरूप अपने दोनों इलाकोंमें सैर करता है। जिस प्रकार चक्रवर्ती महाराज भी अपने इलाकोंमें जानेपर तहाँ कैद नहीं होजाता, तथा स्वतंत्र रहता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने स्वप्न जाग्रत् आदि इलाकोंमें घूमने पर उन के अधीन नहीं रहता और उनका स्वामी रहता है, यह सब देवता उससे शक्ति पाते हैं और उसके लिये काम करते हैं।

(२०९)—जिस प्रकार चक्रवर्ती महाराज अपने सेवकोंको शक्ति और पदसे अलग करके उनको आराम देता है, इसी प्रकार यह भी इंद्रियरूप सेवकोंको कार्यरहित करके अपने सुषुप्तिनाम वाले इलाके में चलाजाता है अतः यह नहीं कह सकते कि—वह इंद्रियें अथवा मनोवृत्तियोंके बंधनमें रहता है, और सुषुप्तिमें भी अविद्या और अज्ञानका बंधन उसमें उसी प्रकार कल्पित रहता है, जिस प्रकार कि—स्वप्नमें सांकल्पिक बंधन होता है अथवा जाग्रत्में इंद्रियोंका बंधन होता है, यदि सुषुप्तिमें अविद्या उसे कैद कर लेती तो वह जाग्रत् अथवा स्वप्न में किस प्रकार सैर कर सकता था? और जिस प्रकार इंद्रियों तथा मनोवृत्तियोंकी शक्तियोंको छीन कर उनको कार्यरहित करके सुषुप्ति में चलाजाता है उसी प्रकार यह अविद्याकी शक्तिको छीनकर अविद्या को फेंकता हुआ स्वप्न अथवा जाग्रत्में आजाता है।

(२१०)–इस प्रकार सिद्ध होगया जाग्रत्---स्वप्न---सुषुप्ति आदि कोई भी इस चक्रवर्ती महाराजको कैद नहीं कर सकते। सब इसीके इलाके हैं सब इसीके सेवक हैं सब इसीके भोग हैं और सब इसीकी चमक हैं, यह अपने प्रकाशमें आपही द्रष्टा और आपही बद्ध होता है, औपाधिक बंधनोंसे बंधन वाला और औपाधिक दुःखोंसे दुःखी प्रतीत होता है, तीनों अवस्थाओंमें घूमता हुआ प्रत्येक अवस्थाके वर्ताव और नियम अपनमें मानकर मनुष्यसा प्रतीत होता है।

(२११)–जब वह विवेक करके इस प्रकार जान जाता है तबवह देखने योग्य वस्तुओंके--विचारने योग्य वस्तुओंके उचित वस्तुओंके और अनुचित वस्तुओंकेभी बंधनोंमें नहीं पडता। चक्षुमें आकर देखने की वस्तुओंको मनमें आकर ध्यान तथा स्मरण करनेकी वस्तुओंको

कर्ममें आकरबुद्धिको,और अनुचित विचारोंमें आकर अज्ञानको देखता है, परंतु वह अज्ञान बुद्धि सोच विचार आदि सबसे श्रेष्ठ है और सब से भिन्न है और उनका साक्षी देखने वाला है, यही उसका, श्रेष्ठ पद है, और यही उसका चौथा पद पूर्ण स्वतंत्र है और तेरा भी यही पद है किंतु तू उसको नहीं जानता।

(२१२)-तू नहीं जानता है इस कारण सैर करने पर भी देखने योग्य वस्तुओंके अधीन होकर उनके सुख दुःख आदि विषयोंको अपनेमें मानता है देखो यदि कोई तुझको मारता है तो वास्तवमें तेरे शरीरको मारता है और शरीर अथवा शरीरके अंग ज्ञान पहिचानके संबंधसे जीवित होनेके कारण दुःखका अनुभव करते हैं, क्योंकि-जब पहिचान नहीं होती तो फिर शरीरको चोटसे दुःख नहीं होता अतः सिद्ध होता है कि—शरीरको दुःख सुख पहिचानकी शक्तिके संबंध से होते हैं और यह उस संघातका धर्म है तेरा धर्म नहीं है,तू तो उस के देखने वाला साक्षी है,क्योंकि—तू तो उस चोटको--उस संघातको और उसके कष्ट तथा दुःखको देखता रहता है और गवाही देता कि-उसको चोट लगी और उसको कष्ट हुआ, जो दिखाई देता है वह दूसरा है और जो देखता है तथा गवाही देता है वह दूसरा है, फिर किस प्रकार तुझको चोटलग सकती है और तुझको किस प्रकारदुःख हो सकता है।

(२१३)-परंतु तू अपनेको साक्षी नहीं जानता और इस अविद्या के कारण इनको अपनेमें मानता है तथा अपनेको संघात जानता है, तेरी यह मुझे कष्ट हुआ इसी प्रकारकी कल्पना है जैसे कहावतमें कहा है कि-दाता दे और भण्डारीका पेट फटे इस प्रकार तू दूसरोंके अपराधोंसे अपराधी औरदूसरोंके दुःखोंसे दुःखी और विवश तथा पराधीन रहता है।

(२१४)-तूविचारकरके देख जिसप्रकार तू जाग्रत्में जाग्रत्के शरीर कोअपना आपा मानता हैऔर उसके दुःख सुखसे तू दुःखीसुखीहोता है, इस प्रकार स्वप्नमें भी तू सांकल्पिक शरीरको अपना आपा मानता है, और सांकल्पिक मनुष्योंसे धक्के खाता हुआऔर मार खाता हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि स्वप्नमें तू कष्ट पाता है, और चीखें मारता है परंतु वहाँ न तो कोई तेरा शरीर होताहै और न मारनेवाला

कोई होता है, तथा यह सब तेरी निद्राकी विचित्रता होती है। ऐसेही यहाँ जाग्रत्में भी न कोई मारता है न कोई मार खाता है किन्तु यह तेरी जाग्रत्की महिमा है। निद्रा और जाग्रत् तेरी अविद्याके रचे हुए लोक हैं, और तेरा मोह ही सूक्ष्म संघातमें तुझको अहंकार वाला करता हुआ दुःखी सुखी और कर्ता भोक्ता बना देता है।

(२१५)–जब तू अधिक विचार करेगा तब जान सकेगा कि—जिस प्रकार सुषुप्तिमें जानेपर न वहाँ कोई कार्य होता है, और न कोई दूसरा तहाँ होता है केवल परमानन्द ही तहाँ रहता है इसी प्रकार तेरा स्वरूप वह है जिसको न तलवार काट सकती है, न अग्नि जलासकती है, न जल भिगो सकता है, न वायु सुखा सकता है। जाग्रत् तथा स्वप्नके शारीरिक दुःख सुख आदि तेरा कुछ नहीं कर सकते, परन्तु यह तब होता है जब कि—तू इन रगोंसे सरकता हुआ अपने मुख्य-लोक हृदय कमलके भीतर सिंहासन पर जा बैठता है।

(२१६)–इस हृदयकमलको संस्कृतमें पुर्यष्टका नाडी भी कहते हैं उससे एक नाडी निकली हुई है, उसमेंसे टहनियोंकी समान बहत्तर हज़ार नाड़ियें मस्तिष्कमेंको आती जाती हैं यह नाड़ियें संस्कृतमें हिता नाड़ियें कहाती हैं, क्योंकि—जब यह सत्कर्मोंको करता है तब इन हिता नाम वाली नाड़ियोंसे निकलकर देवयान सडक पर चलता हुआ ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता है वहाँ अपनी सत्ताका इसको अनुभव होता है, और यह पूर्ण स्वतंत्र प्रतीत होता है, संस्कृतमें प्रियको हित भी कहते हैं और यह नाडी उसके पानेका द्वार है, इस लिये इस नाड़ी-समूहको हिता नाड़ी कहते हैं।

(२१७)–जब इन हिता नाम वाली नाडियोंसे सरकता हुआ हृदयकमलमें उतर कर सिंहासन पर आराम करता है तब उस अवस्थाको सुषुप्ति अवस्था कहते हैं सेवा करने वाले दूसरे देवता वहाँ नहीं पहुँच सकते इस लिये वह अपने पूर्ण स्वतंत्र स्वरूपको पाता है और इस प्रकार आनन्द करता है जिस प्रकार कोई दूध पीता बच्चा दूध पीकर सोजाता है अथवा कोई पूर्णज्ञानी ब्राह्मण अपने विचारके बलसे अपने साक्षी आत्मामें स्थिर होकर नित्यमुक्त होजाता है, इसी प्रकार यह भी अपनी नैसर्गिक सत्तासे वर्तमान रहता है क्योंकि—वह स्वामी है, परन्तु तब भी मनके भीतर अविद्या अवश्य रहती है।

(२१८)—वे मनुष्य धन्य है जो इसको पहिचान कर पूर्ण विश्वास करते हैं और जीवन भर जाग्रत् तथा स्वप्नमें आकर भी अपने आपको साक्षी जानते हैं, सब व्यवहारोंको उपाधियोंका धर्म समझते हैं, और सर्वदा अपने आनन्दमें स्थिर रहते हैं, वास्तवमें वही परम-ब्राह्मण है, पूर्णज्ञानी हैं और वही मुक्त हैं।और जो इसको नहीं जानते वही बन्धन वाले मनुष्य हैं ज्ञानीको तो मृत्युके पीछे फिर संसार नहीं भोगना पडता वह सिंहासन उसको मिल जाता है और अविद्या तुरंत ही दूर होजाती है तथा सत्संकल्पादि हिरण्यगर्भके औपाधिक धर्म उसमें कल्पित होजाते हैं और यह बन्धनयुक्त प्राणी संसारमें इस कारण जन्म मरण पाते हैं कि—अविद्या और मोहमें पड़कर आत्माको वद्ध कहते हैं और इसको ईश्वर कहते हैं। राजाने गार्ग्यको इस प्रकार समझाया तव उसने ज्ञान पाकर कृतज्ञता प्रकटकी।

(२१९)–हे गार्ग्य ! जो आत्मा सुषुप्तिमें इकला और अखण्ड सिद्ध हुआ वही परब्रह्म है करने वाली शक्तियें प्राण इन्द्रिय आदि इसीसे निकली हैं, जिस प्रकार अग्निकी चमक अग्निसे उत्पन्न होती है, इसी प्रकार सब लोक–सब देवता और सब प्राणी इससे प्रकट होते हैं अथवा जिस प्रकार मकड़ीसे जाला निकलता है, इसी प्रकार यह सब इससे प्रकट होते हैं। इसका रहस्य यह है वह सत्यका भी सत्य है प्राणका भी सत्य है, और इन्द्रियोंका भी सत्य है यही उसकी पहिचान है।

❀ दूसरा परिच्छेद ❀

(१)–ऊपरकी कथाका सूक्ष्म तात्पर्य यह है कि–मैं आपको ब्रह्म का उपदेश देता हूँ,यह गार्ग्यका निश्चय था और करनेकी इन्द्रियें (देवताओं) को भी उसने ब्रह्म वतलाया था तव राजाने उनको जगत्में जड सिद्ध करके दिखाया कि—यद्यपि वह पूजनीय हैं और उनकी उपासनासे फल भी होते हैं किन्तु वह फल भी संसार ही है, और फिर देखनेकी आत्माका करनेकी आत्मासे विवेक करके सुषुप्तिमें दिखलाया वहाँ न तो किसी गुणका उसमें सम्बन्ध है और न किसी यंत्र अथवा करनेकी इन्द्रियका संग है और न कोई आत्माके अतिरिक्त

उपादान है और अखण्ड वस्तु मात्र अपना आत्मा वहाँ रहता है, वही आत्मा इकला असंग है क्योंकि-न तो उसके लिये वहाँ यंत्र हैं न उपादान जिससे संसारकी रचना करें और आपही उपादान आपही जगत्का कर्ता है, विज्ञान उपाधिमें जाग्रत्के समय एक वही प्रकाश सिद्ध होता है जैसा, कि—हाथ लगाकर जगानेमें राजाने उसे चैतन्य स्वयप्रकाश ज्योतिस्वरूप सिद्ध कर दिखाया, और जाग्रत्में उसी विज्ञानमयसे इंद्रियोंके देवता चमककी समान जैसे सूर्यकी किरणें सूर्य से निकलती हैं प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं।

(२)-फिर उसी आत्माको राजाने उनसे भिन्न उनकी शक्तियें छीनकर अपनी महिमामें जो पूर्ण आनन्द है दिखलाया और सिद्ध किया कि—सब इंद्रियें जो करनेकी आत्मा देवता हैं उसमें उसीप्रकार एक होजाती हैं जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्यमें सूर्यास्तके समय मिल जाती हैं, और जो जिसमें मिलजाता है उसीसे निकलता है, यह नियम है। इसका उदाहरण यह है कि–सूर्यकी किरणें भी सूर्योदयके समय फिर उसीसे निकलती हैं।

(३)—और फिर यह दृष्टांत दिये थे, कि-जिसप्रकार अग्निकी चमक अग्निसे उत्पन्न होती हैं और मकड़ीके तार मकड़ीसे निकलते हैं, इसी प्रकार आत्मासे क्या करनेकी शक्तिमें क्या लोक क्या देवता जो उनके अधिष्ठाता और सबके पूजने योग्य हैं और क्या भूत इह-लोकसे परलोक पर्यन्त सबके सब उत्पन्न होते हैं, और यह सब सत् हैं, और यही आत्मा इन सतोंका भी सत् है यही उसका परम सार उपनिषद् अथवा ज्ञान है, इस प्रकार राजाने गार्ग्यके सामने आत्मा को ही परब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया।

(४)-इसके सूक्ष्म रहस्यको बृहदारण्यक उपनिषद्में द्वितीय अध्यायके मूर्त अमूर्त ब्राह्मण और शिशु ब्राह्मण नामके दूसरे तीसरे ब्राह्मणोंने बहुत स्पष्ट किया है, कि–सर्वसाधारण मनुष्य जानते हैं, ईश्वर जगत्का रचयिता है, जिस प्रकार बढ़ई कारीगर लकड़ीसे तख्त बनाता है उसी प्रकार ईश्वर भी अभावसे जगत्को बनाता है, और जिस प्रकार तख्तका बनाने वाला बढ़ई तख्तसे भिन्न है इसी प्रकार ईश्वर भी संसारसे भिन्न है, उसको किसीने नहीं देखा।

(५)-ऊपर लिखी हुई वैदिक गाथासे आत्मा ईश्वर कारीगर

तो सिद्ध होता है परन्तु सब जगत्‌से भिन्न सिद्ध नहीं होता, क्योंकि-शरीर प्राण आदि सब जगत् उसीका प्रकाश सिद्ध होचुका है और वही उसका उपादान और वही उसका कर्ता है,जब वही उसका उपादान है तब अभाव (असत्) से सत् जगत् नहीं होसकता और अभावसे ही भाव रूपमें आता है विज्ञान सम्मत यही बात है, क्योंकि-विज्ञानके जानने वाले कहते हैं कि-अभावसे भावका होना असत्‌से सत्‌का होना-दुर्लभ है, यदि अभावसे कोई वस्तु उत्पन्न होजाती तो सबसे सबकी उत्पत्ति होजाया करती, परन्तु ऐसा नहीं होता अतः सिद्ध होता है कि—कार्य अपने कारणमें उसीका कार्य रूप होकर छिपा रहता है और वर्तावके समय उसी कारणसे प्रकट होजाता है।

(६)-देखो जब मक्खनको चाहने वाला दूधको लेता है और मट्ठाको नहीं लेता उस समय वह जानता है कि-दूधमें मक्खन है मट्ठामें नहीं है, और कुम्हार मट्टीको उठाता है दूधको नहीं उठाता, क्योंकि-वह जानता है कि-मट्टीसे घड़ा बनता है दूधसे नहीं बन सकता, यदि असत्‌से सत् होसकता तो मक्खनका बिलोने वाला मट्टीसे भी मक्खन बना लेता और घड़ेका बनाने वाला दूधसे भी घड़े को बना लेता, अथवा किसी उपादानके न होने पर भी दूध बेचने वाला अभावसे मक्खनको बना लेता और इसी प्रकार कुम्हार भी मट्टीके बिना घड़ा तयार कर लेता।

(७)-देखो बढई भी बिना लकड़ीके तख्त तयार नहीं कर सकता मिस्त्री भी मलबेके बिना मकानको नहीं बना सकता अतः सिद्ध होता है कि-अभावसे किसी भी वस्तुका बनाना कठिन है, और उपादान आपही अपने दूसरे गुणमें बदल कर कारीगरके बनाने पर कार्य हो कर दिखाई देने लगता है, बस वह कारण ही दूसरी आकृतिमें आकर कार्य कहाता है,तो फिर यह कैसे होसकता है कि-यह विचित्र संसार असत्‌से सत् होगया हो ? वही ईश्वरात्मा अपने अनेक गुण और प्रकाशमें प्रकाशित होकर जगत्‌रूप हो रहा है. यही सत्य है, और जब वेदकी श्रुतियें भी इसी बातको प्रमाण करती हैं तब बुद्धिमानों की बुद्धि बहुत ठीक प्रतीत होती है।

(८)-जो इसके विरुद्ध जगत्‌को असत्‌से सत् मानते हैं वे अज्ञानी

हैं बुद्धिमान् पुरुषोंके और श्रुतियोंके सामने उनका सिद्धांत तुच्छ है, श्रुतिमें लिखा है कि-जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर जिसमें स्थिर रहता है, तथा महाप्रलयके समय फिर जिसमें समाजाता है वही ब्रह्म है, अतः प्रतीत होता है ब्रह्म इसका उपादान कारण भी है परन्तु बढईकी समान नहीं है, क्योंकि—बढई जिस चौकीको बनाता है चौकी फिर बढईमें स्थित नहीं होती, परन्तु ऐसा होता है कि-बढईके पर भी चौकी वर्तमान रहती है और चौकी टूटने पर भी बढईमें नहीं मिल जाती।

(९)—तख्त अथवा चौकी लकड़ीमें ही उत्पन्न होती है, और लकड़ीमें उत्पन्न होकर लकड़ी ही में स्थिर रहती है लकड़ीके न होने पर चौकी भी जाती रहती है और तोड़ने पर लकड़ी ही में मिल जाती है, इस लकड़ीको चौकीका उपादान कारण कहते हैं, ईश्वर अथवा आत्मा भी जगत्का वास्तविक उपादान कारण है, क्योंकि-इसमें यह जगत् उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर उसीमें ठहरा रहता है और दूर होकरभी उसीमें मिलजाता है।

(१०)—यह तो किसीका भी सिद्धांत नहीं है कि-जिस प्रकार बढईके न होने पर भी चौकी वर्तमान रहती है; इसी प्रकार ईश्वरके न होने पर जगत् वर्तमान रहे इस प्रकार श्रुतियोंके द्वारा जगत्का उपादान कारण भी परमात्मा ही सिद्ध होता है, वह सत् है, और जगत् भी उसी सत्मेंसे निकल कर ठहरा हुआ सत् है, और देवता भी उसके ही भाग हैं वह भी वास्तविक सत्से प्रकट होते हैं उसमें स्थिर रहते हैं और उसीसे सत्तावान होते हैं, इसी कारण राजा अजातशत्रुने कहा था, कि—प्राण ही सत् है और वह प्राणोंका भी सत् है, यही उसका ज्ञान है।

(११)-लकड़ी यद्यपि चौकीका उपादान कारण है, किन्तु कर्ता नहीं है क्योंकि—वह जड़ है, जो जड़ होता है वह उपादान तो हो सकता है परन्तु कर्ता नहीं होसकता, और यह बात भी नहीं है कि-चैतन्य कर्ता ही होसकता है उपादान नहीं होसकता? क्योंकि—सर्प जब घेरा बाँध कर बैठ जाता है और जब लम्बा होजाता है, तब घेरा बाँधनेमें लम्बा होनेमें सर्प आप ही उपादान है और आप ही कर्ता है। देखो जब देवदत्त खड़ा हो जाता है और बैठ जाता है तब देवदत्त ही

बैठने उठनेका कर्ता तथा उपादान होता हैं, इस कारण ईश्वर परमात्मा में यह शंका नहीं घट सकती। और वह आप ही जगत्का कर्ता है और आप ही उपादान है।

(१२)–जब वह जगत्का आपही कर्ता है और आपही उपादान ये तब फिर किस प्रकार विश्वास होसकता है कि–ईश्वरने असत्से सत् जगत्को बनाया और यह सिद्ध होता है कि—परमात्मा जगत्के रूपमें आपही प्रकट हुआ और वही उसका कारीगर है, जब नट भिन्न२ प्रकारके वेष धरके आता है तब आप ही वेषोंका कर्ता आपही उपादान होता है,वह प्रत्येक वेषमें भिन्न२रूप धारण करके विचित्र तमाशा करने वाला सिद्ध होता है; इसी प्रकार जगत्की रचना करने वाला ईश्वर भी विचित्र कर्ता प्रतीत होता है,विज्ञान वेत्ताओंकी बुद्धि भी तहाँ तक नहीं पहुँच पाती।

(१३)–यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहियें, कि—उपादानके बदलने पर ही कार्य उत्पन्न होता है, यदि परमात्माको जगत्का उपादान मान लिया जायगा तो उसको बदलने वाला भी मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात नहीं है, अतः सिद्ध होता है, कि—वह उपादानके न होने पर अभावसे जगत्को बनाता है। परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि—जिस प्रकार परमात्मा बदल नहीं सकता उसी प्रकार अभाव से भी भाव नहीं होसकता।

(१४)–जब दीपकमें प्रकाश प्रकट होता है तो दीपक बदल नहीं जाता, अथवा सूर्यकी किरणें सूर्यसे निकलती हैं तो सूर्य बदल नहीं जाता, सुनार सोनेसे भूषण बनाता है तो सोना ताँबा नहीं होजाता, रेतेमें मृगतृष्णाके प्रतीत होने पर भी रेता जल नहीं होजाता, रस्सीमें सर्पका भ्रम होने पर भी रस्सी सर्प नहीं होजाती, सीपीमें चाँदीका भ्रम होता है तो सीपी चाँदी नहीं होजाती, इसी प्रकार परमात्मा भी यदि अनेक जगत्रूप होकर दिखाई दे रहा है तो वह जगत् नहीं बन गया।

(१५)–जिस प्रकार चाँदीका भ्रम होने पर सीप सीप ही रहती है, और सर्पका भ्रम होने पर रस्सी रस्सी ही रहती है, मरु मरीचिका में यद्यपि जल दिखाई देता है, परन्तु रेता भीग नहीं जाता, दीपक अनन्त चमकें मारता है परन्तु दूर नहीं होजाता, सब चमकें दीपककी विचित्र चमकें दिखाई देती हैं इसी प्रकार परमात्मा भी जग त्नहीं

होजाता, और संसार इसीका एक सूक्ष्म प्रकाश है, लालकी चमक लालरूप है और लाल अपनी चमकमें दिखाई देता है बदलता नहीं।

(१६)–जिस प्रकार दीपककी चमक दीपकका एक प्रकाश है और उससे भिन्न नहीं अथवा लालकी चमक लाल है उससे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार:अमक रूप वाला जगत् भी स्वयंज्योति चेतन परमात्माकी ही चमक है और उससे भिन्न नहीं और यह प्रकट है कि–दीपककी चमकका उपादान वही दीपक है अथवा लालकी चमकका उपादान वही लाल है न तो लाल बदलता है और न दीपक बदलता है दीपक अपने प्रकाशमें प्रकाशित और लाल अपनी चमक.दमकमें अनमोल अथवा बहुमूल्य सिद्ध होता है, इसी प्रकार ईश्वर परमात्मा भी अपनी संसाररूप चमकमें स्वयंज्योति और सर्वशक्तिमान् प्रकट रहता है। फिर हम किस प्रकार विश्वास करें कि–वह तख्तकी समान बनाया गया है अथवा घड़ेको बनाने वाली मट्टीकी समान गोंधा गया है ?

(१७)—और जिस प्रकार देवदत्त अपने उठने बैठनेमें देवदत्त ही बना रहता है अथवा सर्प अपने कुण्डल मारने अथवा लम्बा होनेमें सर्पका सर्प बना रहता है क्योंकि—न तो देवदत्त बदलता है न सर्प बदलता है, उसके गुण बदलते रहते हैं, इसी प्रकार ईश्वर परमात्मा भी जगत्रूपमें प्रकट होकर आप नहीं बदलता और उसकी माया बदलती रहती है यह माया उसकी छाया अथवा गुण है और उससे भिन्न नहीं होती ।

(१८)–जिस प्रकार सर्प कुण्डलकी आकृतिमें आने पर लम्बा होने पर अथवा ऊपरको अपना फन उठाने पर भिन्न २ आकारोंमें प्रकट होता है किन्तु सर्प बदलता नहीं है और मनुष्य प्रत्येक आकारमें उस को सर्प ही जानते हैं, इसी प्रकार परमात्मा भी अपनी मायाके विचित्र आकारोंमें क्षणमात्रमें जगत्रूप होकर प्रकट हुआ है तो भी हम उस को प्रत्येक आकारमें वही अपना आत्मा मानते हैं,और उसके विचित्र आकारों पर बलिहारी होजाते हैं, ।

(१९)—इसी कारण राजा अजातशत्रुने दृष्टान्तमें बतलाया था, जिस प्रकार अग्निका प्रकाश अग्निसे उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर परमात्मासे सब प्राण—सब लोक—सब देवता–और सब भूत

उत्पन्न होते हैं। श्रुतिका तात्पर्य यह है जैसे अग्नि अपने प्रकाशका आप ही उपादान है इसी प्रकार परमात्मा भी आप ही इन सबका उपादान है, परन्तु जड़ होनेके कारण अग्नि उपादान तो होसकती है, परन्तु कर्ता नहीं होसकती उसमें स्वाभाविक रीतिसे प्रकाश प्रकाशित होता रहता है, इस लिये दूसरा दृष्टान्त दिया कि—जिस प्रकार मकड़ी शिकार करनेके लिये अपने जालोंको फैला देती है, इसी प्रकार परमात्मासे भी जगत् फैला हुआ है।

(२०)—देखो अपने जालोंको फैलानेमें मकड़ी स्वाभाविकरूपसे विवश नहीं है और चैतन्य होनेके कारण स्वतंत्र है कि—चाहे फैलावे अथवा न फैलावे, यही दशा परमात्माके प्रकाशकी है, परन्तु वह अग्निके प्रकाशकी समान मजबूरन ही उनसे प्रकाशित नहीं होता रहता है, प्रकाशके प्रकट होनेमें वह पूर्ण स्वतन्त्र है अतः सर्वशक्तिमान् है, यह शक्ति और स्वतंत्रता ही उसकी माया है वह अपनी स्वतंत्रतासे इनको उत्पन्न करता है और अपनी इच्छासे ही इनका संहार कर लेता है।

परन्तु मकड़ीकी ओर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि—वह पांचभौतिक शरीरसे भिन्न है, पाञ्चभौतिक शरीरमें रहने वाला चैतन्य जीव उससे भिन्न है, शरीर तो जालोंका उपादान है और कर्ता तो चेतन जीव है, इस लिये श्रुतिने अग्निके प्रकाशका भी दृष्टांत दिया है, कि—जिस प्रकार अग्निका प्रकाश अग्निसे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार चेतनका प्रकाश चेतनसे भिन्न नहीं है, इस लिये स्वतंत्रतामें तो मकड़ीका दृष्टांत ठीक है और प्रकाशमें अग्निका दृष्टांत ठीक है इस प्रकार दोनों सम्मलित दृष्टांत ठीक है।

(२२)—देखो अग्निका प्रकाश अग्निसे भिन्न नहीं है तब भी अग्निमें प्रकट होकर भिन्न २ नाम रूप वाला कहाता है क्योंकि—सर्वसाधारण उसको अग्नि नहीं किन्तु अग्निकी लपट कहते हैं और वह अग्निका ही स्वरूप है, तब भी वह आँखोंको चौंधिया देता है, इस लिये अग्नि होने पर उसको चमक कहते हैं और ज्ञान होने पर अग्निके अतिरिक्त उसकी कुछ वास्तविकता नहीं होती कहने मात्रको नामरूप ही रहजाता है।

(२३)—इसी प्रकार संसार भी अनेक नाम तथा रूपोंमें चमककी

समान इस प्रकाशात्मामें प्रकट हो रहा है क्योंकि—जिस वस्तुको विचार पूर्वक देखते हैं वह उस वस्तुकी मूर्ति होती है, अथवा दूसरी वस्तुकी मूर्तिसे भिन्न होती है अथवा उसका नाम होता है जो उसकी पहिचानके लिये औरोंसे भिन्न रख लिया जाता है, नाम रूपके विना बाकी सब एक सत्ता ही है वह सबमें एक है, वह सत्ताही परमात्मा है जिस प्रकार अग्निमें चमक भी अपने नामरूपसे प्रकट होती है और उसमें भीतर बाहर अग्नि ही व्यापक रहती है, इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके नामरूपमें सत्ता ही भीतर बाहर रहती है और इसी कारण प्रत्येक वस्तुकी पहिचान "अस्ति-है" शब्दसे होती है, अतः सिद्ध होता है कि—जगत् नामरूप ही है वह परमात्मामें दिखाई देता है और परमात्मा की चमक है, तथा परमात्मासे भिन्न नहीं है।

(२४)—देखो अग्निकी लपटोंमें अग्निके अतिरिक्त उसकी सत्ताकी खोज करें तो नामरूप ही प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार जगत्‌की भी सत्ताके विना खोज करें तो जगत् भी नामरूप मात्र ही सिद्ध होता है, संस्कृतमें इसीको मिथ्या कहते हैं क्योंकि—जो नहीं हो और दिखाई दे वही मिथ्या और कल्पित कहलाता है, देखो मृगतृष्णामें जल नहीं होता किन्तु दिखाई देता है, इसी कारण सर्वसाधारण उसको कल्पित कहते हैं, और यहाँ भी विचार करके देखा जाय तो चमककी वास्तविकता अथवा नाम रूप मरुमरीचिकाकी समान सत्ताके अतिरिक्त मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, परन्तु जिस प्रकार मरुमरीचिकाका जल रेतेकी सत्तामें सत् दिखाई देता है इसी प्रकार यह मिथ्या कल्पित नामरूप संसार भी परमात्माकी सत्तामें प्रकट होकर सत् दिखाई देता है।

(२५)—परन्तु जिस प्रकार मरुमरीचिकाका जल सत् होता है और रेता उसकी सत्ताका भी सत् है, इसी प्रकार जगत् भी सत् है और परमात्मा उसकी सत्ताका भी सत् है, यही परमात्माका रहस्य है और यही उसकी पहिचान है।

(२६)—यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि—मरुमरीचिकामें यद्यपि जलका नाम रूप कल्पित है परन्तु उसका जल प्यासको शांत नहीं कर सकता और स्नानादि फल नहीं देता, इस लिये मिथ्या प्रतीत होता है, और संसारका जल तो प्यास शान्त करता है और स्नानका फल देता है, इस लिये यह विश्वास कैसे होसकता है, कि—वह मरुमरीचिका

के जलकी समान कल्पित है, क्योंकि—जिस प्रकार मरुमरीचिकामें जलकी आकृति और उसका नाम मिथ्या प्रकट हुआ इसी प्रकार संसार के जलमें उसका नाम रूप और उसके गुणोंकी आकृति भी प्रकट हुई इस लिये जगत्‌का जल तो स्नानादिका फल देता है और वह नहीं देता।

(२७)—देखो स्वप्नमें जब हम नदीको चलती देखते हैं तो यद्यपि वह मिथ्या होती है तथापि जिस प्रकार उसका आकार उसके साथ होता है इसी प्रकार उसका कल्पित नामरूप और गुण भी होता है, इसी लिये वह स्वप्नमें स्नानादिका फल देती है यही दशा जाग्रत्‌के जलकी है, परन्तु जिस प्रकार स्वप्नसे निकल कर जाग्रत्‌में आने पर उन सब को मिथ्या मानते हैं इसी प्रकार विचार करने पर यहाँकी वस्तुओंको उनके गुणोंको और उनके बर्तावको भी हम मिथ्या मान सकते हैं, क्योंकि—केवल सत्ता ही सबमें वर्तमान है यदि उस सत्ताको पृथक् करके वस्तु अथवा गुणोंको उससे भिन्न देखें, तो गुणदायक होने पर भी वह मिथ्या सिद्ध होगी, यहीज्ञान है, यही रहस्य है।

(२८)—स्वप्नमें जो संसार दिखाई देता है यद्यपि उसमें गुण और बर्ताव भी साथ ही रहता है परन्तु स्थिरता और कोई क्रम नहीं है और एक क्षणमें घोडा होता है दूसरे क्षणमें हाथी होजाता है, परन्तु जाग्रत् में तो कल्पित क्रम और स्थिरता होती है इस कारण अज्ञ पुरुष उसको सत् जानता है, वास्तवमें तो वह मरुमरीचिकाके समान मिथ्या है।

(२९)—प्रत्येक रीतिसे आत्मा ज्योतिःस्वरूप और स्वयं प्रकाश है, और सब कल्पित वस्तुएँ उसकी ज्योतिकी चमक हैं, परंतु किसी स्थान पर तो प्रकाशरूपसे प्रकाशित होता है, और कहीं उस प्रकाशरूपके प्रकाशसे प्रकाशित गुण और व्यवहारको भी मिलाता है, कहीं प्रकाशित वस्तुओंकी स्थिरता और क्रमको भी मिलालेता है। पहिला प्रकाश तो मृगतृष्णामें होता है, दूसरा स्वप्नमें होता है, तीसरा जाग्रत्‌के संसार में होता है अतः क्या जाग्रत् क्या स्वप्न—क्या मृगतृष्णा सबका सब आपही अपनी चमकमें प्रकट होता है यही सिद्धांत है।

(३०)—जहाँ वह मूर्ति—गुण—स्थिरता और क्रमसे प्रकाशित होता है तहाँ उसीको सर्वसाधारण सत् कहते हैं और वह स्वयं सत्ता का भी सत् वर्तमान रहता है यही उसकी पहिचान है।

(३१)—अब हम उसके चमकके क्रमकी भी सूक्ष्म व्याख्या लिखते

हैं कि-सृष्टिकी आदिमें उसका प्रकाश आकाशके रूपमें होता है, और स्थिरता तथा नियमका प्रकाश उसके साथ होता है, इस कारण इस आत्माका इस प्रकाशित होनेमें आकाश नाम होता है, तदनन्तर वायु की आकृतिमें प्रकाश प्रकट होता है उसमें प्रकाशित होनेमें यह वायु कहाता है, फिर आकाश और वायुमें अंतर रूप प्रकाश उत्पन्न होता है इस लिये आकाश और वायु भिन्न २ प्रतीत होते हैं, फिर आकाशमें कारण और वायुमें कार्यका प्रकाश प्रकट होता है, इस लिये सिद्ध होता है, कि-आकाशसे वायु उत्पन्न होती है।

(३२)-फिर वायुसे अग्नि--अग्निसे पानी और पानीसे मट्टी इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, बस वास्तवमें सबकी सब चमकें (सूरत गुण बर्ताव और स्थिरता अथवा नियम) इसी प्रकाशसे उठते हैं, परंतु इन के आपसके मेल और अंतर और कारण अथवा कार्य कारणसे यह विचित्र पंच तत्त्व उत्पन्न होते दिखाई देते हैं, वास्तवमें वही अपनी इन चमकोंमें प्रकाशित हुआ पंच तत्त्वोंकी सूरतमें प्रकट होता है जैसा कि—नट अपने वेश बनाता है।

(३३)—फिर उन पंचतत्त्वोंकी छाँट होती है प्रत्येक तत्त्वका सार निकाला जाता है, वह सार या तो सूक्ष्मतर हैं--या सूक्ष्म--या स्थूल उन मेंसे जो सूक्ष्मतर निकलते हैं उन्हें सत्त्वगुण कहते हैं, जो सूक्ष्म निकलते हैं वे रजोगुण कहाते हैं, और जो स्थूल प्रकट होते हैं तमोगुण नाम पाते हैं, वास्तवमें सब उसीकी चमकें हैं और मिथ्या हैं, उसीकी सत्तामें चमकती हैं।

(३४)-प्रत्येक तत्त्वके सत्त्वगुण प्रकाशकी मिलावटसे वह करने की शक्ति जो जान पहिचानका काम करती है बनाई जाती है जिसे सर्वसाधारण अन्तःकरण कहते हैं, और उनके रजोगुण प्रकाशकी मिलावटसे वह करनेकी शक्ति जो जीवन पर्यन्त शरीरमें खेंचती निकालती--रोकती पचाती कुछका कुछ बनाती है बनाई जाती है, और उसे पंच प्राण बोलते हैं।

(३५)-फिर भिन्न सत्त्वगुणोंके प्रकाशसे ज्ञानेन्द्रियें बनाई जाती हैं, और प्रत्येक तत्त्वके भिन्न २ रजोगुणी प्रकाशसे वह शक्तियें जो कर्मेन्द्रियें कहलाती हैं बनाई जाती हैं, यह सब मिल कर सूक्ष्मशरीर कहलाता है, और प्रत्येकके तमोगुणी प्रकाशसे तो शरीर तयार होता

है वह स्थूलशरीर कहलाता है, और इन दोनोंके मिलापसे मनुष्य हो जाता है,और इस मनुष्यमें प्रकाशित हुआ परमात्मा जो देखनेकी शक्ति है चमकता-दमकता-देखता सुनता बात चीत करता और सब मानुषी व्यवहार करता हुआ मनुष्य दिखाई देता है।

(३६)—जैसे अग्निके सत्त्वगुणसे देखनेकी इन्द्रिय-आकाशके सत्त्वगुणसे शब्द—वायुके सत्त्वगुणसे स्पर्श-पृथ्वीके सत्त्वगुणसे गन्ध-और पानीके सत्त्वगुणसे रस उत्पन्न होता है ये ज्ञानेन्द्रियें कहलाती हैं फिर सबके सत्त्वगुणसे मिला हुआ मन होता है, फिर चक्षु तो अग्नि का मुख्य सत्त्वगुण है। इस लिये अग्निका धर्म जो रङ्गरूप है उसको दिखानेका मुख्य कारण है,इस प्रकार श्रोत्रशब्दका-स्पर्श उष्ण शीतका-नासिका गन्धका-और स्वाद मिठाई खटाईका यन्त्र है क्योंकि—यह सब चमकें उन्हींके धर्म हैं, जिनसे यह इन्द्रियें साररूप निकाली गई हैं इस लिये वह अपने प्रथम धर्मको जानती हुई उसका ज्ञान पाती हैं।

(३७)-परन्तु मन तो उन पञ्चतत्त्वोंके सत्त्वगुणसे मिला कर बनाया गया है, इस लिये सबके धर्मोंकी चमकको ग्रहण करता है, सबके जाननेका यन्त्र है, और सबकी सोच समझका कार्य करता है, परन्तु वह इन्द्रियें तो बाहरी अङ्ग आँख नाक कान जिह्वा मांस और त्वचामें रक्खी गई हैं, यह मन हृदयकमल और मस्तिष्कमें रक्खा गया है इस लिये अन्दरकी चीजोंकी जो दुःख सुखरूप चमक हैं उनको पहचान करता है, बाहरकी वस्तुओंकी पहचानके लिये उन्हीं इन्द्रियोंके मार्गसे निकलता है और उन इन्द्रियोंकी सहायतासे बाहरके मुख्य २ रूप आदिको भी पहचान करता है, पञ्चप्राण तो भीतरके काम करते रहते हैं और कर्मेन्द्रियाँ बाहरके काम जैसे चलना पकड़ना आदि करती हैं और इस मनकी इच्छाके अधीन रहती हैं, किन्तु पञ्चप्राण भीतरी मनके प्रकाशसे भी पहले प्रकाशित हैं, इस कारण इस मनकी इच्छाके वशीभूत नहीं हैं होते और जो भोग देनेके लिये तयार होते हैं उन कर्मोंके वशीभूत रहते हैं।

(३८)-यद्यपि ज्ञानेंद्रियें—कर्मेंद्रियें-मन और प्राण भिन्न चमक हैं परन्तु उनका बर्ताव तब होता है जब मन तो प्राणोंमें और इंद्रियें मन और प्राणोंमें मिल पाते हैं, क्योंकि—जिस प्रकार अग्नि लकड़ी पर पड़नेसे प्रकाश और जलानेका कार्य करता है इसी प्रकार मन प्राणोंमें

ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियें मन और प्राणोंमें लगी हुई अपना २ कार्य-व्यवहार करती हैं यही कारण है, कि—प्राणोंके निकलनेसे यह सब साथ ही निकल जाते हैं यह बात कर्मकाण्डमें प्राणोंके झगड़ेसे प्रकट करदी गई है।

(३९)—इस प्रकार यह सब मेल पाजाते हैं और भिन्न २ प्रकाश से मिल कर एक ही होकर सूक्ष्म शरीर कहलाता है, यह सूक्ष्मतर तत्त्वोंसे बनाया गया है इस लिये जानने योग्य और स्थूल भी नहीं होता, किंतु यह शरीर तो स्थूल तत्त्वोंसे बनाया है इस लिये जानने योग्य और स्थूल है और इसीके भीतर उसको उचितरूपसे रक्खा गया है इस बातको बहुत बार कहा है।

(४०)—यही बात नहीं है, कि—मनुष्यका शरीर ही इस तमोगुण से बनाया गया हो किंतु चरंद परंद चौपाए आदि सबके शरीर तमोगुणी बनाए गए हैं, और उनमें भीतरी प्रकाश भी लगाया गया है इस लिये वह आपसमें भिन्न दिखाई देते हैं और फिर मनुष्यकी समान ही सूक्ष्म शरीर भी प्रत्येक यंत्रोंकी समान रक्खा गया है प्रत्येक अपना अपना वर्ताव कर विचित्र माया दिखाते हैं।

(४१)—मनुष्योंके शरीर ही नहीं किन्तु वृक्षादिकोंके शरीर भी इसी तमोगुणी प्रकाशसे बनाए गए हैं और उनके भीतर भी इसी सूक्ष्म शरीरका प्रकाश रखा गया है क्योंकि—वह मनुष्योंकी समान भोजन खाते हैं और पानी पीते हैं और फलते फूलते हैं, अधिक क्या लिखें क्या पृथिवी क्या वायु क्या पानी क्या आकाश क्या अग्नि क्या सूर्य क्या तारागण जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं इसी तमोगुणी प्रकाशसे बनाए गए हैं और उनके भीतर वही सत्त्वगुणी और रजोगुणी प्रकाशसे मिला हुआ सूक्ष्मशरीर उसी प्रकार रक्खा हुआ है जिस प्रकार मनुष्यमें रक्खा हुआ है यदि वह (सूक्ष्मशरीर) पृथिवीमें न होता तो पृथिवी घास पातको किस प्रकार उत्पन्न करती ? अथवा यह गाढी हुई वस्तु को किस प्रकार खाजाती प्रत्येक वस्तुका विचार करें और देखें तो क्या अग्नि क्या पानी वस्तुको खाकर अपना रूप कर लेते हैं, और उनके भीतर वही पंचप्राण अथवा करनेकी शक्तियें हैं जिसका वर्णन हम ऊपर कहचुके हैं और वही सबकी जान है।

(४२)—जिस प्रकार मनुष्यके शरीर भी भिन्न २ वस्तुओं और

भिन्न २ तत्त्वोंसे बने हुए हैं उसी प्रकार प्रत्येकके शरीर भिन्न २ वस्तुओं और भिन्न २ तत्त्वोंसे बने हुए हैं, देखो मनुष्यके शरीरके भीतर हड्डी माँस चरबी खून आदि भिन्न २ वस्तु हैं इसी प्रकार वृक्षादिकोंमें हैं जिसकी बहुधा पहचान प्राकृत विद्यामें विज्ञानके द्वारा होती जाती है और जिनकी मिलावटसे ये सूक्ष्म-स्थूल-कठिन नरम होजाते हैं यह सब उसी तमोगुणी प्रकाशसे तयार होते हैं।

(४३)-भिन्न २ तत्त्वोंके अंशसे बने हुए मनुष्यके शरीरमें उन सब वस्तुओंके साथ एक मेलका प्रकाश लगाया गया है जिस मिलाप के कारण वह एक शरीर दिखाई देता है, इसी प्रकार क्या पृथवी क्या आकाश क्या तारागण यद्यपि भिन्न २ तत्त्व और भिन्न २ अंश हैं तो भी इन सबमें एक मिलापका प्रकाश लगाया गया है जैसे पृथ्वी का आकाश अग्नि हवा और और पानीसे मिलाप (पंचीकरण) प्रत्यक्ष है फिर सूर्य और तारागणादिका आकाश अग्नि हवा और पानीसे पंची-करण प्रत्यक्ष है, तो यह सबके सब एक प्रकाशके कारण एक बड़ा शरीर है और संस्कृतमें यही विराट कहलाता है।

(४४)-परन्तु जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें सूक्ष्मशरीर है इसी प्रकार विराटमें बड़ा सूक्ष्म शरीर है इसको दूसरे मनुष्य ईश्वर कहते हैं जिस प्रकार मनुष्यका सूक्ष्मशरीर उसीके शरीरके भीतर काम करता है उसी प्रकार यह हिरण्यगर्भ अथवा ईश्वर सबमें सब कुछ करता है उसीके कार्योंको सबसाधारण ईश्वरीय शक्ति कहते हैं देखो पृथिवीसे घास पात निकलते हैं आकाशसे वर्षा होती है, तारागण बराबर फिरते हैं, यह सब काम इसी करनेकी शक्तिके हैं जो ईश्वर अथवा हिरण्य-गर्भ है।

(४५)—यह सन्देह नहीं करना चाहिये, कि-हिरण्यगर्भ ईश्वर है, एक हकीकतखलत है और जिस प्रकार मनुष्यका ज्ञानेन्द्रियं और कर्मेन्द्रियों सूक्ष्मशरीर, मन और पंचप्राणरूप भिन्न २ तत्त्वोंके प्रकाश से एक बनाया गया है, उसी प्रकार ईश्वर भी जो हिरण्यगर्भ है भिन्न भिन्न तत्त्व ज्ञानेन्द्रियें मन और पञ्चप्राणोंसे एक बनाया गया है।

(४६)-जिस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियं आँख कान नाक आदिमें रहती हैं उसी प्रकार उसकी ज्ञानेन्द्रियें भी सूर्य दिशा आकाश अग्नि हवा आदिमें रहती हैं और जिस प्रकार हमारा मन हमारे हृदयकमलमें

है उसी प्रकार उसका मन चन्द्रमामें है और जिस प्रकार हमारे पञ्च-प्राण प्रत्येक अङ्गमें मिले हुए हैं उसी प्रकार उसके पञ्चप्राण भी विराट के प्रत्येक भागमें मिले हुए हैं।

(४७)–हम भी आँखसे देखते हैं वह भी सूर्यसे देखता है, क्योंकि-जैसे हमारी आँख हमारे देखनेका मार्ग है वैसे ही सूर्य भी उसकी आँख है वह उसके देखनेका मार्ग है, हम कानोंसे सुनते हैं तो वह दिशाओंसे सुनता है, वही दिशाएँ उसके कान हैं। हम मनमें सोचते समझते और विचार करते हैं वह भी चन्द्रमामें जो उसका मन है सोचता समझता विचारता है। और जिस २ अङ्गमें जिस २ प्रकार सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध हमारे शरीरमें है उसी प्रकार मुख्य २ अङ्गोंसे ईश्वर अथवा हिरण्यगर्भका विराटसे सम्बन्ध है जिस प्रकार यह शरीर और सूक्ष्मशरीर मिलकर मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मांड और ईश्वर मिल कर विराट् कहलाता है।

(४८)—यही कारण है, कि—ज्ञानवान् विश्वास करते हैं, कि-मनुष्य प्रजापतिकी आकृतिमें निर्माण किया गया है और हम कहते हैं, कि—हम उसीके पुत्र उसीका रूप हैं, हम बेटे हैं प्रजापति बाप है, वह पृथिवी और आकाशका महाराजा है, हम उसीके राजकुमार हैं और उसकी सम्पत्ति पाने वाले हैं, अब यों समझो, कि–जब वह सबमें सब कुछ करता है तो इसी कारणसे वेदान्तियोंमें उसे समष्टिके नामसे बोला करते हैं, परन्तु हम जो उसीके समान अपने सूक्ष्म और मुख्य शरीरमें सब कुछ करते हैं व्यष्टि शब्दसे कहे जाते हैं।

(४९)—हमारा शरीर व्यष्टि है और उसका शरीर समष्टि है हमारा सूक्ष्मशरीर व्यष्टि है उसका समष्टि है, परन्तु यह प्रकट है, कि–व्यष्टि अपनी समष्टिसे भिन्न नहीं होजाता और वही होता है इसी प्रकार हमारी आँखे उसीकी आँखें हैं हमारे कान उसीके कान हैं हमारे शिर उसीके शिर हैं।

(५०)–यही कारण है, कि–वेदके मन्त्र कहते हैं उसके सहस्रों शिर हैं, सहस्रों आँखें हैं सहस्रों चरण हैं यद्यपि हमारी आँखें और कान भी उसीकी आँखें और कान हैं परन्तु सूर्य उसकी मुख्य आँख है वह कल्प तक स्थिर रहती है हमारी आँखें स्थिर नहीं हैं इस लिये शास्त्र उसके मुख्य अङ्गों सूर्य आदिको कहते हैं और उनमें जो इंद्रियें और अङ्ग करनेकी शक्तिके हैं वे देवता कहाते हैं।
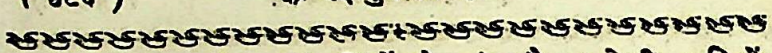
(५१)—यद्यपि हमारी इन्द्रियें और अंग और करनेकी शक्तियें भी उसी करनेकी शक्तिकी टहनी हैं इस लिये वह भी देवता हैं, तो भी वह हमसे सूक्ष्म शरीर रखते हैं, सम्बन्ध रखते हैं इस लिये इन्हें अध्यात्म कहते हैं और उन्हें आधिदैविक कहते हैं।

(५२)—अब इस प्रकार समझो, कि-प्रत्येक वस्तुमें देवता सहायक हैं इस लिये उस वस्तुमें संसारका काम होता है और दूसरे यह अध्यात्म प्राण जो हमारे करनेकी व्यष्टि शक्ति है आधिदैविकी सहायतासे कर्मोंके अनुसार नियत समय तक शरीरसे सम्बंध रखता है वह जिस प्रकार सम्बन्ध रखता है हम उसका उदाहरण देते हैं वेदोंमें बछड़ेका उदाहरण दिया गया है, क्योंकि-उसमें पहचानकी शक्ति तो अपनी नहीं है और उस देखनेकी शक्तिकी छायासे पहचानकी शक्ति उठती है जिसका भ्रमरूप संबंध उसी देखनेकी शक्तिके कारणसे कल्पित होता है इस लिये इसी अज्ञानके कारणसे बछड़ेका उदाहरण दिया गया है।

(५३)—जिस प्रकार बछड़ेके लिये मकान फिरनेका कमरा बाँधने का खूँटा रस्सी और घासकी आवश्यकता है इसी प्रकार इस बछड़े का मकान तो शरीर है उसमें यह रहता है, बिना शरीरके यह काम नहीं करसकता।

(५४)—मस्तिष्क और आँखें और सब अङ्ग इसके फिरनेके कमरे हैं,प्रत्येक अङ्गमें वह फिरता अपना काम करता है,परंतु मुख्य मस्तिष्क जो उसकी पहिचानकी शक्तियें हैं खेलनेका कमरा है, क्योंकि-जो उसकी स्वाभाविक टहनियें हैं वह तो प्रत्येक अङ्गमें मिली हुई हैं और मुख्य जिगर उसका मूल है परंतु पहचानकी शक्तियें टहनियोंकी समान उससे निकल कर जब मन और मस्तिष्कमें फैलती हैं तो जान पहचान और चेष्टाका काम करती हैं, इस लिये मन और मस्तिष्क पहचानके वर्तावका मुख्य कमरा है।

(५५)—प्राण उसका खूँटा है, क्योंकि-जिस प्रकार बछडा खूँटे से बँधा हुआ मकानसे बाहर नहीं निकलजाता इसी प्रकार जब तक (रूहबुखारी) प्राण शरीरमें वर्तमान रहता है यह भी शरीरमें रहता है, और प्राण जब पच जाता है फिर यह शरीरसे निकल जाता है, इसीको सर्वसाधारण मृत्यु कहते हैं।

(५६)—जो कुछ भोजन खाया जाता है पहले वह मादा होजाता है उसमें जो स्थूल और फोकस होता है वह अलग होकर गुदाकी राह बाहर निकल जाता है जो उसका सूक्ष्मरस होता है वह जिगरमें जाता है और वहाँ पचता है, और उसका स्थूल मूत्र बनकर मसानेमें आजाता है, और मूत्रेन्द्रियके मार्गसे निकल जाता है और उसमेंसे जो सूक्ष्मरस जिगरमें पचता है उससे वात-पित्त-रक्त-कफ बनते हैं और यह वात-पित्त आदि नाड़ियोंके मार्गसे प्रत्येक अंगमें पहुंचते हैं।

(५७)—परंतु नाड़ियोंमें और अङ्गोंमें भी फिर यह पचती हैंऔर उनसे भाप निकलती हैं वह दिमागको चढ़ती हैं उनमें बँधा हुआ यह प्राण अथवा बछडा स्वाभाविक काम करता है और उन्हींके संबंधसे यह पञ्चप्राण कहलाता है क्योंकि—उसके सब पाँच काम हैं जिनको कर्मकाण्डमें हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

(५८)—फिर क्योंकि-यह वात-कफ-रक्त-पित्त जब हृदयकमलमें आता है तो वहाँ भी पचता है और उनसेभाप उष्णताकीआकृति उठती है वह नाड़ियोंके द्वारा शरीरमें फिरती हैं और शरीरको शक्ति देती है, इसको बुद्धिमान् पुरुष (रूह हैवानी) प्राण कहते हैं, और यही जीव-प्राण जब नाडियोंके द्वारा मस्तिष्कमें पहुँचता है और फैलता है, तब वह दूसरी अवस्थामें आकर करनेकी शक्तिको प्रकट करने वाला हो जाता है, वह जाननेका काम करता है, अत एव बुद्धिमान् पुरुष इस जीव (रूहबुखारीको) अध्यात्मप्राण (रूह नफसानी) भी कहते हैं। इस प्रकार वात पित्त कफसे उत्पन्न होने वाले प्राणको मनुष्य भ्रमवश आत्मा कहा करते हैं, परन्तु वास्तवमें यह आत्मा नहीं है और वात पित्त आदिकी सूक्ष्म भाप है, तब भी करनेकी शक्तिका (जीवात्मा का) बंधनरूप है, क्योंकि-जब तक यह सूक्ष्म भाप रहती है; तब तक वह बछडेकी समान इसमें बँधा रहता है, यह तो शरीरके भीतर उस का खूँटा है।

(५९)-परंतु जब तक रस्सी न होगी तब तक खूँटा भी उसको बन्धनमें नहीं रख सकेगा। और प्रत्येक प्रकारका भोजन ही उसकी रस्सी है, क्योंकि—यह प्रतिक्षण पचता रहता है और खाया हुआ भोजन इसका शरीर होजाता है, इस लिए भोजन ही रस्सीकी समान है, इस प्रकार इस रस्सीसे उस खूँटसे बँधा हुआ यह कार्य करता

रहता है, जब यह (बुखारी रूह) प्राण भी पच जाता है, तब यह तरुण बछडेकी समान शरीरसे निकल जाता है, उसका यही स्वभाव है।

(६०)-यह हमारी अपनी कपोलकल्पना नहीं है । क्योंकि-प्राणविषयक विज्ञानके विषयमें शिशु ब्राह्मणमें यही बातें लिखी हैं और आरण्यकभागमें लिखा है, कि-जो मनुष्य बछड़ेको उसके मकान को उसके मकानके कमरोंको, उसके खूँटेको और उसके बाँधनेकी रस्सीको जानता है, वह अपने शत्रुओंको जीत लेता है।

(६१)-इंद्रियें तथा मन ही उपरोक्त शत्रु हैं,क्योंकि-वे ही इसको विषयोंमें आसक्त करते हैं, इसको देखने वाले आत्माको जाननेसे रोकते हैं, वही इसका उत्तम लक्ष्य है, जो पुरुष इस भाँति बछड़ेको भोजनकी रस्सी आदिको जानता है, वह सरलता पूर्वक मन आदि को विषयोंसे रोक लेता है। यही उसके ज्ञानका फल है।

(६२)—दो नेत्र दो कान मुख और नासिकाके दो छिद्र ये सात भाई हैं और इसको विषयोंमें लगाते रहते हैं और अन्तर्मुख नहीं होने देते,इन्हींको वशमें करनेके लिये कर्म और उपासना की जाती है परंतु इस बछड़ेकी पहिचान होने पर फिर यह सरलतासे वशमें होजाते हैं।

(६३)—यह प्राणही वास्तवमें बछड़ा है शरीर ही इसका थान है और मस्तिष्क इसके निकलने और फिरनेका कमरा है (रूहबुखारी) जीव उसका खूँटा है भोजन उसकी रस्सी है, आँखके कमरेमें सात ग्वाले रहते हैं वह उसका पालन करते हैं, नेत्रमें जो लाल डोरे दीखते हैं उनमें रुद्र देवता इसका पालन करता है क्योंकि-जब क्रोध करता है तो नेत्र लाल २ होजाते हैं और यह रुद्रदेवता उसकी सहायताकरने के लिये उठता है तथा नेत्रोंमें जो जल रहता है वह आँसू कहलाते हैं इनमें मेघोंका अधिष्ठात्री देवता रहता है और उसका पालन करता रहता है, क्योंकि—जिस प्रकार मेघोंसे जल बरसाता रहता है उसी प्रकार दुःख पड़ने पर आँखोंसे आँसू निकलते रहते हैं, इस प्रकार जो देवता वर्षाके लिये मेघोंमें रहताहै वही देवता मनुष्यके नेत्रोंमेंभी रहता है और इस बछड़ेका ग्वाला है।

(६४)—नेत्रके जिस छिद्रमेंको प्रकाश जाता है उसमें ही सूर्य देवता रहते हैं और उसको देखनेमें सहायता देते हैं क्योंकि—वह सूर्य

सहायताके बिना दीखने वाली वस्तुओंको नहीं देख सकता इस लिये सूर्य देवता भी इसका ग्वाला है।

(६५)-नेत्रमें जो कालिमाका मण्डल है उसमें सूर्यके असिस्टेन्ट अग्नि देवता रहते हैं क्योंकि-सूर्यके अस्त होनेपर अग्नि उसके स्थान दिखानेका काम करता है, और नेत्रमें जो सफेदी दीखती है उसमें इन्द्र देवता रहते हैं वह आँखके फिरनेमें सहायता देते हैं और इस बछड़ेका पालन करते हैं, नीचेके पलकमें पृथिवीके देवता और ऊपर के पलकमें आकाशके देवता रहते हैं वह उसको खाक धूलसे बचाकर दोनों पलकोंको मिलाते रहते हैं और आँखके प्रकाशमें उसे स्वच्छ करते हैं, इस लिये वह भी इस बछड़ेके ग्वाले हैं। जो इस प्रकार इन ग्वालोंको जानता है उसके सेव्य कर्म कभी समाप्त नहीं होते और अपनी प्रत्येक सेवाके लिये वह सेवकोंको बिना मूल्य ही पाता है।

(६६)-वेदमें लिखा है कि-औंधा चमस बिल्व है उसमें विश्वरूप यश रक्खा हुआ है उसके किनारों पर सात ऋषि रहते हैं और आठवीं वाणी रहती है वह ब्रह्मको बतलाती है। यज्ञके कार्यमें आने वाले एक गोलपात्रका नाम चमस है और [illegible] एक प्रसिद्ध फल है भारतीय वैद्य उसमें औषधियें रक्खा करते हैं, यदि बिल्वके ऊपर चमसको औंधा करके रक्खाजाय तो मनुष्यके शिरकी समान आकृति हो जाती है, इस लिये मंत्रमें सूत्ररूपसे कहा है कि-एक औंधा चमस बिल्व है।

(६७)-और उसमें विश्वरूप यश भरा हुआहै। और यही प्राण जो करनेकी शक्ति है यशस्वरूप है और उसमें भरा हुआ है और वह विश्वरूप है क्योंकि-सब जगत् इसीका बना हुआ है तथा आँख नाक-कान-मुख आदि सात किनारे सात ऋषि हैं और ब्रह्मको बताने वाली वाणी आठवीं है।

(६८)-दोकान-दो आँख-दो नाक और एक मुख यह सात ऋषि हैं और ब्रह्मको सुनते रहतेहैं तथा आठवीं वाणी ब्रह्मको अपने भीतर बतलाती है इस प्रकार इन ऋषियोंकी सभामें ब्रह्मकी कथा होती है और मस्तिष्कमें रहने वाले यज्ञके पात्र चमस बिल्वमें यश मिलता है यह इस मंत्रका भाष्यरूप तात्पर्य है।

(६९)-दोनों कान गौतम और भरद्वाज ऋषि हैं दाईं और

गौतम और बाईं ओर भरद्वाज ऋषि बैठे हुए हैं। दोनों नेत्र विश्वा- मित्र और जमदग्नि ऋषि हैं दाईं ओर विश्वामित्र और बाईं ओर जमदग्निऋषि बैठे हुए हैं, नाकके दाहिने नथने पर वशिष्ठ और बा[ये] नथने पर कश्यप ऋषि बैठे हैं। वाणी अत्रिऋषि हैं वह ब्रह्मकी क[था] सुनाते रहते और खाते रहते हैं। जिस प्रकार कथा जिह्वासे होती [है] और भोजन भी जिह्वासे खाया जाता है और संस्कृतमें खाने वा[ले] को अत्रि कहते हैं, ऐसा विश्वास करने वाला पुरुष सब प्रकार[के] भोजनको खानेका अधिकारी होजाता है, और सब भोग उस[को] बिना प्रयासके मिल जाते हैं, इस प्रकार शिशु ब्राह्मणमें लिखा हुआ [है]।

(७०)-अजातशत्रुके उपदेशमें यह दिखाया था कि-प्राण स[त्य] हैं, इस लिये शिशु ब्राह्मणका अनुवाद करके प्राणोंका रहस्य दिखा[या] किया, अब इस बातको दिखाते हैं कि-वह प्राण क्या वस्तु हैं औ[र] किस प्रकार सत् हैं, और वह किस प्रकार पंचभूतोंसे निका[ले] गए हैं, और पंचभूत किस प्रकार सत् हैं जिनके अध्यारोप औ[र] अपवादसे वह निश्चित सत्का सत् जाना जाता है।

(७१)-[illegible] संसार पंचभूतोंका कार्य है और अनं[त] रूप वाला है तथा [illegible]मूर्त और अमूर्त भेदसे दो प्रकारका [है] मरने वाला है अथवा अमर है इनकी वासनारूप उपाधिसे वह ब्र[ह्म] सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कहलाता है, इन उपाधियोंके दूर होने प[र] वह निश्चित सत्का सत् रहजाता है, अब इस विषयको स्पष्ट कर[ने] के लिये मूर्तामूर्त ब्राह्मणका अनुवाद करते हैं।

(७२)-इस ब्राह्मणमें लिखा है कि-इस ब्रह्मके दो रूप हैं मू[र्त] अथवा अमूर्त, मरने वाला अथवा अमर, परिच्छिन्न अथवा अपरि- च्छिन्न, वाणीका गोचर अथवा वाणीका अगोचर, इन्द्रियज्ञेय अथवा मनोज्ञेय है यद्यपि वह अरूप है तथापि दूसरोंके रूपोंसे रूप वाला होजाता है।

(७३)-यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि-वह रूपरहि[त] किस प्रकार दूसरोंके रूपोंसे रूप वाला होजाता है, क्योंकि-रूप स्वयं रूप वाला नहीं होसकता, अथवा शरीर स्वयं ही शरीर वाला नहीं होसकता अतएव जो अरूप है, वही रूपवाला होसकता है यदि अशरीर शरीरवाला नहीं होसकता तो क्या सशरीर शरीर वाला [होसकता है]

कता है ? यह कभी नहीं होसकता । जो स्वयं शरीर है वह शरीर वाला किस प्रकार माना जासकता है ?

(७४)-यह बात अवश्य है कि-जब वह शरीरकी उपाधियोंसे शरीरवाला होता है अथवा नामरूपात्मक उपाधियोंसे नामरूप वाला होता है तो उसमें शरीर अथवा नामरूप मेल नहीं खाते, और वह ज्योंका त्यों इस प्रकार पवित्र अशरीर और नाम रूप रहित रहता है जिस प्रकार बिल्लौरका सफेद गिलास लाल शरबतसे भरनेपर लाल सी प्रतीत होता है, तब भी वह औपाधिक कालिमासे लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्मभी शरीर अथवा नामरूप उपाधियोंसे और नाम रूप वाला तो होजाता है परंतु उनसे लिप्त नहीं होता है ।

(७५)—शरीर नाम रूप आदि उसीके प्रकाश हैं और वह अपने ही प्रकाशमें प्रकाशित होकर शरीरधारी और रूपवाला कहलाता है, इस विषयका विस्तृत वर्णन हम पहिलेकर आये हैं।जब वह इन चमकों को दूर करदेता है तब वही अशरीर नामरूप रहित सत्का सत् तथा अपने आनन्दमें स्थिर होता है, इस वातको हमने सुषुप्तिमें सिद्ध कर दिया है । अब इस ब्राह्मणमें हम यह सिद्ध करेंगे [illegible] जिसमें यह रूप वाला प्रकट हुआ है और जो सबमें सत् दिखाई [illegible] रूपोंको युक्तिपूर्वक अध्यारोप और अपवादके द्वारा वह"यह रूप भीनहीं है यह रूप भी नहीं है" जो शेष रहता है वही ईश्वर है और वही सत्का भी सत् है ।

(७६)-जब तक नामरूपमें पहिले उसको न सिद्धकिया जाय और फिर नाम रूपको अलग करके उसको नाम रूप रहित न सिद्ध किया जावे तब तक वह किसप्रकार निश्चित सन्मात्र पहिचाना जासकता है । इसीलिये श्रुति भगवती कहती है कि-उस अरूपके मूर्त और अमूर्त यह दो रूप हैं ।

(७७)-मूर्त आकृतिको कहते हैं और अमूर्त आकाररहितको कहते हैं, नष्ट होवे वालेको मरने वाला कहते हैं और नष्ट न होने वालेको अमर कहते हैं, सीमा वालेको परिच्छन्न कहते हैं और सीमारहितको अपरिच्छन्न कहते हैं, जो एक स्थानसे दूसरे स्थान पहुँचाया जासकता है उसको मनकूल कहते हैं और दूसरे स्थानमें नहीं पहुँचाया जासकता उसको गैर मनकूल कहते हैं, जो इन्द्रियोंसे जाना जासकता है उसको

(महसूस) इन्द्रियज्ञेय कहते हैं और जो इन्द्रियोंसे नहीं जाना जासकता है किन्तु बुद्धिसे जाना जासकता है उसको (माकूल) मनोज्ञेय कहते हैं।

(७८)-अब इसप्रकार समझना चाहिये कि-वास्तवमें सब उपाधि दो प्रकारकी हैं एक मूर्त और दूसरी अमूर्त। शेष चार भेद उन्हींके हैं क्योंकि-जोमूर्त है वही अवयवोंसे मिला हुआ है और वही मरनेवाला है, वही परिच्छिन्न है, इसलिये वह दूसरी जगह पहुँचाया जासकता है और वही इन्द्रियोंसे जाना जासकता है, परन्तु जो अमृत है अवयवों आदिसे मेल नहीं पाता है वही अमर है, वही अपरिच्छिन्न है, वह दूसरी जगह नहीं पहुँचाया जासकता और वही मनोज्ञेय है।

(७९)-इसीलिये श्रुति भगवतीने कहा है कि-मूर्त और अमूर्त ब्रह्मके यह दो ही रूप हैं और मूर्त मरनेवाला परिच्छिन्न दूसरे स्थान पहुँचाया जासकनेवाला-और इन्द्रियोंसे जाननेमें आने वाला कहा है, और अमूर्त न मरने वाला-अपरिच्छिन्न दूसरे स्थान पर पहुँचाया जासकनेवाला-और मनोज्ञेय है वास्तवमें मूर्त और अमूर्त दोनों रूप उस अलिप्त परमात्माके ही हैं।

(८०)-आकाश और वायुके अतिरिक्त अग्नि-जल-और पृथ्वीका बना हुआ जो मूर्तरूप है वह मरनेवाला परिच्छिन्न-दूसरे स्थानपर पहुँचाया जासकने वाला-इन्द्रियज्ञेय और सत् है। इस मूर्त अथवा मरनेवाले-परिच्छिन्न-दूसरे स्थान पर पहुँचाये जासकनेवाले-इन्द्रियज्ञेय सत्के पृथ्वी-जल अग्नि रूप तीन भूत हैं उनका सार सूर्य है जो प्रत्यक्ष चढ़ता और तपता रहता है उन्हींके सत्का यह रस है।

(८१)-आकाश और वायुही अमूर्त हैं यही अमर हैं, यही अपरिच्छिन्न, दूसरे स्थान पर न पहुँचाये जासकने वाले, मनोज्ञेय और सत् है, इस अमूर्त-अमर-अपरिच्छिन्न-दूसरे स्थानपर न पहुंचाये जासकने वाले-मनोज्ञेय सत्के जो दो भूत आकाश और वायु हैं, करनेकी शक्ति उनका सार है वह इस सूर्यके भीतर स्थित है और पुरुष कहाती है यही उनके सत्का सार है यही अधिदेव है, इसीको हिरण्यगर्भ और दूसरे ईश्वर कहते हैं।

(८२)-यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि-पहिले मूर्त अग्नि-मट्टी-और जलतत्वोंका वर्णन किया है तो उसमें आकाश वायुका भाग न होगा? उनमें आकाश और वायुका भी भाग है पर

...ह बहुत सूक्ष्म है, और तीनों भूत अधिक हैं। जिस प्रकार मनुष्यका शरीर पृथ्वीके भागकी अधिकताके कारण पार्थिव कहलाता है, इसी प्रकार सूर्यमें जो करनेकी शक्ति है उसमें अग्नि-मृत्तिका और जलका भाग न हो यह बात नहीं है, परन्तु बहुत थोड़ा है और उसमें आकाश तथा वायुका स्वत्वगुणी भाग अधिक है इसलिये वह अमूर्त है।

(८३)--अब अध्यात्म कहते हैं कि—जो मूर्त है अर्थात् आकाश और वायुके अतिरिक्त अग्नि-पृथ्वी और जल मूर्त हैं यही मरने वाला, यही परिच्छन्न यही इन्द्रियज्ञेय है, यही दूसरी जगह पहुंचाया जा सकता है, यही सत् है। बस यही मूर्त, परिच्छन्न दूसरी जगह पहुंचाया जासकने वाला इन्द्रियज्ञेय सत्का सार यही है जो मनुष्यका नेत्र है और नेत्रकी कालिमाही इस सत्का रस है।

(८४)—परन्तु आकाश और वायु यह दोनों अमूर्त है, यही अमर अपरिच्छिन्न दूसरे स्थान पर न पहुँचाये जा सकने वाले मनोज्ञेय और सत् हैं, आकाश वायुरूप इसी अमूर्तका और अमर अपच्छिन्न-दूसरी जगह न पहुँचाये जासकने वाले-मनोज्ञेय सत्का सार दाहिने नेत्रकी कालिमा में करने वाली शक्ति है और यही मनुष्यका सूक्ष्मशरीर अथवा अन्तःकरण कहलाता है यह इन्हींका सार अथवा रस है यह अध्यात्म है।

(८५)—सूक्ष्मशरीर कहलाने वाली करनेकी शक्तिके स्वरूपको श्रुति बतलाती है कि—इस भीतरी पुरुषका रूप इस प्रकार समझना चाहिये, जिसप्रकार हल्दीका रँगा वस्त्र होता है अथवा रँगा हुआ ऊनी वस्त्र होता है—या वीर बहुटी होती है—या अग्निकी लाल लपट होती है, अथवा कमल होता है, अथवा कभी २ बिजली चमक जाती है वैसा ही इसका स्वरूप है। जो इसको बिजलीकी समान वासनावाला जानता है उसको सब सिद्धि प्राप्त होती है।

(८६)—श्रुतिका तात्पर्य यह है, कि--अन्तःकरणका यह स्वरूप है, कि—उसमें प्रत्येक वस्तुकी पहिचानकी वासना कल्पित है क्योंकि—जो २ हम जानते पहिचानते हैं सबकी पहिचानकी वासना फोटोकी समान अन्तःकरणमें छपती है और उन वासनाओंके कारणसे वह चीर वस्त्रकी समान रंग बिरंगा होता है इसी लिये श्रुतिने भिन्न २ रंगोंका दृष्टांत दिया है।

(८७)—देखो जब यह वासनायें हमारे भीतर प्रकाशित होती हैं,

तो उन्हींको मनुष्य अपना ज्ञान अथवा वृत्तियें कहता है और जब प्रकाशित नहीं होतीं तब सबकी पहिचानें चित्रकी समान भीत शांत रहती हैं, बस उन्हीं पहिचानोंका नाम वासना है जो अप्रकाशि अवस्थामें हमारे भीतर है, परंतु वह बिजलीकी समान तुरन्त हम भीतर प्रकाशित नहीं होतीं, किंतु कुछ स्वाभाविक रीतिसे और कु शिक्षासे और कुछ अनुभवसे सिद्ध होती हैं और सूर्यके भीतर जि हिरण्यगर्भ और समष्टि प्राणका वर्णन किया है उसमें सब पहिचा सृष्टिकी आदिसे सबकी सब सर्बदा प्रकाशित रहती हैंऔर महाप्र तक स्थिर रहती हैं इस कारण वह सर्वज्ञ है और हम अल्पज्ञ हैं।

(८८)-समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ जब सुषुप्तिसे निकलता है तब स वस्तुओंकी पहिचाने तुरंत ही बिजलीकी समान इस प्रकार प्रकाशि होती हैं,कि-"यह वस्तु इस प्रकार बनती है उस समय बनती हैं औ उस नियतसमय तक स्थिर रहेगी इत्यादि"तथा उसके यह संकल्प मह प्रलय तक एक ही वृत्तिरूपसे स्थित और वर्तमान रहते हैं, इसी लि श्रुतिने उसे बिजलीकी समान तुरत प्रकाशित होने वाला कहा और उसकी पहिचानका फल भी कहा है कि-जो इस पर विश्व करता है, उसको लक्ष्मी अथवा आदर मिलता है।

(८९)—परंतु हमारे सब ज्ञान भी यद्यपि ज्ञानरूपसे भीतर स्थि हैं तब भी तुरंत ही प्रकाशित नहीं होते और लड़कपनमें स्वाभावि रीति पर जितनी आवश्यकता होती है उतने ही प्रकट होते हैं अप युवावस्थामें भी आवश्यकतानुसार प्रकट होते हैं, तथा कुछ शिक्षा कुछ अनुभवसे प्रकट होते हैं इस कारण अध्यात्म वासनारूप उपासन में आकर वह देखनेकी शक्ति अल्पज्ञ कहाती है, और अधिदैव उपासन में आकर सर्वज्ञ कहलाती है, वास्तवमें सर्वज्ञता और अल्पज्ञता कहा वाली दूसरी शक्तिके धर्म हैं वे वासनारूपसे अप्रकट हुए चित्रकी समान उसमें हैं और यह चैतन्यदेव साक्षी परमात्मा उनसे अलिप्त है

(९०)—श्रुति इस प्रकार ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों बताकर अध्यारोप और अपवादके द्वारा इस साक्षी चैतन्य निर्गुण रूपरहितका उपदेश देती है "यह नहीं यह नहीं" मूर्त और अमूर्त ज़ो श्रेष्ठ है वही ब्रह्म है तथा वह अनिर्वचनीय है औरयह सब उसी कल्पित नामरूप हैं इनकी अपनी सत्ता कुछ नहीं है, इस लिये है

तका सत् है। प्राण सत् हैं परंतु वह तो प्राण—हिरण्यगर्भ—और ईश्वरका भी सत् है यही उसका रहस्य है।

(९१)—श्रुतिका तात्पर्य यह है कि—साधारण मनुष्य मूर्तको रने वाला देखते हैं इस लिये ईश्वरका रूप नहीं मानते और अमूर्त—करने वाली शक्तिको अमर जानते हैं उसको स्वाभाविक रीतिसे ब्रह्म रूप मानते हैं, इस प्रकार सर्वसाधारण मध्यम धर्म और मध्यम ानने वाले हैं, वे समझते हैं कि-जो सब कुछ करता है सर्वज्ञ है अमूर्त वही ईश्वर है।

(९२)—परंतु यह बात पहिले सिद्ध करदी गई है कि—सर्वज्ञ सब कुछ करने वाली करनेकी शक्ति हिरण्यगर्भ इन्हीं पञ्चभूतोंका स प्रकार सार है जिस प्रकार मूर्त भी इन्हीं पञ्चतत्त्वोंका सार है। उसी प्रकार वह भी नामरूपसे कल्पित उसकी उपाधि होती है और उसीके ठहरनेके कारण वह परोक्षमें सब कुछ करता हुआ सब कुछ जानता हुआ सर्वज्ञ और अमूर्त प्रतीत होता है इसी प्रकार यह से उपाधिमें आकर शरीरधारी अल्पज्ञ जीव कहलाता है।

(९३)—परंतु वास्तवमें मूर्त—अमूर्त विनाशवान् और अविनाशी ह पञ्चतत्त्वोंके औपाधिक धर्म हैं, और पहिचान—बुद्धि वासना इन्हीं पञ्चतत्त्वोंका सार है, यही एकत्र होकर हिरण्यगर्भ अथवा अंतः-करण कहलाते हैं यह सब अनित्य सत्य हैं नित्य सत्य नहीं है। मूर्त उपाधियें तो नियत समय तक सत् रहती हैं और अमूर्त उपाधियें ज्ञान होने तक सत् रहती हैं क्योंकि—ज्ञान होने पर मूर्त और अमूर्त सब ही मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं, इस लिये यह सब अविनाशी सत् नहीं हैं अविनाशी सत् तो वही है जो अध्यारोप और अपवादके द्वारा इन सबसे बचा हुआ रहता है। उसको पालने वाला ईश्वर सर्व-शक्तिमान्—अथवा सर्वज्ञ आदि गुणवान् मानना अनुचित है, क्योंकि-यह सब गुण या रूप तो दूसरे हिरण्यगर्भके हैं और उसमें कल्पित हैं।

(९४)—यह किसी गुणसे भी गुणी नहीं है और किसी नामसे नाम वाला नहीं है, इस लिये वाणी बुद्धि अथवा मनकी तहाँ तक पहुँच नहीं है इस लिये उसको नामरूप मूर्त-अमूर्तमें पहिचान कर अध्यारोप और अपवादके द्वारा समझलेना चाहिये कि—न तो वह नाम है न रूप है न मूर्त है न अमूर्त है, न सर्वज्ञ है न अल्पज्ञ है, किंतु

सबका शेष ही यही ब्रह्म है, और यही हमारा आत्मा है, उसके
चाननकी ठीक रीति यही है, इसी लिये मूर्तामूर्त ब्राह्मणमें मूर्त-अ
आदि सबको उसीका रूप बता कर फिर नति नतिके द्वारा इ
मूर्त अमूर्त आदि सबसे श्रेष्ठ आत्मा सिद्ध किया है जो इसको
प्रकार अध्यारोप और अपवादके द्वारा शेष बचा हुआ अपना आ
जानता है वही ब्रह्मवश्न् है।

(९५)-उसको मूर्त जानना इसीकारण नैमित्तिक सत् है अ
नैमित्तिक असत् है और अमूर्त जानना तथा सर्वज्ञ मानना भी इ
प्रकार नैमित्तिक सत् और असत् है, इन दोनों प्रकारके ज्ञानको रख
वाले बंधनमें फँसते और अपमानित होते हैं, उसके कुछ बंधन और उ
धियें स्थूल मूर्त मात्र हैं और कुछ बंधन और उपाधियें सूक्ष्म अमूर्त
क्या मूर्त-क्या अमूर्त-सब उपाधियोंमें बंधन है उसके निर्गुण पद
ज्ञान तो अध्यारोप और अपवादके द्वारा ही होता है, इसलिये जो उ
को मूर्त मानते हैं और जो अमूर्त-सर्वज्ञ सबका हर्ता कर्ता मानते हैं
दोनों एकसे हैं।

(९६)-पहिली प्रकारके मनुष्य उसके स्थूल प्रकाशमें चकरा र
हैं और दूसरी प्रकारके मनुष्य उसके सूक्ष्म प्रकाशमें चकरा रहे हैं अ
अपनी बुद्धिके अनुसार विश्वास करते हैं और आपसमें झगड़ते
जो उसको मूर्तके प्रकाशमें देखता है और उसकी उपासना करता
तो दूसरे उसे बुरा कहते हैं, और अच्छा नहीं समझते, तथा दूस
पुरुष उसको अमूर्त प्रकाशमें सबका स्वामी हर्ता कर्ता और सर्व
मानते हैं और किसी मूर्त्तिको नियत न करके उपासना करते हैं औ
आकाशमें चढ़ कर व्यर्थ ही कल्पना करते रहते हैं, वे वायुको मुट्ठी
पकड़ना चाहते है, खेद है कि-इसप्रकार दोनों उसको नहीं जानते।

(९७)-वेदोंमें खोज करने पर यही सत्य प्रतीत होता है कि-क्य
मूर्त क्या अमूर्त वह सबमें सब कुछ है, और क्या मूर्त-क्या अमू
वह सबसे पवित्र सबसे श्रेष्ठ है, या यों जानें कि-"सब वही है"
या यों विश्वासकरें "मैं वही हूँ" यही उसकी पहिचान और मुख्य ज्ञा
है, इसी पहिचान पर मोक्ष निर्भर हैं। भाषा जानने वालोंको उचित
कि-पहिले इसी विश्वासको पक्का कर कि-"सब वही है" अथवा
वही हूँ" फिर उसको अध्यारोप और अपवादसे जैसा मूर्तामूर्त

के लक्षणमें नियम बतलाया है उसका ज्ञान प्राप्त करें, और वह यही नियम है कि-सब नाम रूप उसमें कल्पित हैं, जो कुछ नाम या रूप-बुद्धि-सोच विचारमें आवे सबको (नफी) दूर करता जावे वह जो का दूर (नफी) करनेके पीछे उनके अपवाद करनेवाला आत्मा अपना प है वही शेष है, वही अनिर्वचनीय निर्गुण रहेगा, क्योंकि-जब ब गुण और चूनों चरा (यह-वह) को वह दूर (नफी) करलेगा उसका अपना आप जिसने सबको दूर (नफी) किया है दूर (नफी) हीं होसकता और शेष रहता है, उस वक्त में ईश्वर हूँ का विश्वास-न—प्राप्त होसकता है।

(९८)—परन्तु जिसको यह ज्ञान अथवा पहिचान न प्राप्त हो सको चाहिये कि-इस पर विश्वास अवश्य करे क्योंकि-इसी विश्वास कारण वह देवयान सड़क पर चलता हुआ ब्रह्मलोकको जावेगा र यही विश्वास ज्ञानका फल लगावेगा, और अपने साथ क्षमें लेगा, यही धर्म वास्तवमें ज्ञानका बीज है, इस लिये जिसके स बीज नहीं वह फल भी नहीं खा सकता, इस प्रकार निश्चयवान् नियमानुसार मुक्ति पा सकता है, परंतु वह सोच और विचारसे ध्यारोप और अपवादके नियमसे ज्ञानका फल पाता है नकद्‌मोक्ष खास मुक्ति) प्राप्त करता है और ज्ञानमें आता है, उसके प्राण तो हाँ ही मृत्युके समय अपने आत्मामें लीन होजाते हैं, और समष्टि ण वायुकी समान भर जाते हैं फिर अपने आपको सर्वशक्तिमान् र न्यायकारी देखता है, यही ज्ञान है।

(९९)—जो ऐसा निश्चित ज्ञान नहीं पाते और साम्प्रदायिक गड़ोंसे एक दूसरोंके ऊपर आक्षेप करते रहते हैं और अपनी बुद्धिके नुसार ही कार्य करते हैं, तथा श्रुतिके तात्पर्यको न विचार कर चातानीसे कुछका कुछ अर्थ करते रहते हैं ऐसे मनुष्य तो कभी क्ति नहीं पासकते क्योंकि-वे सब बद्ध ब्रह्मको जाननेके कारण बंधनः क रहते हैं और वेदोंका भी यही सिद्धान्त है; कि-जैसी मति होती वैसी गति होती है। मध्यमश्रेणीके बुद्धिमान् पुरुष सूक्ष्म उपाधि करनेकी शक्ति) को अमूर्त होनेके कारण ईश्वर मानते हैं परन्तु नका विचार भी ठीक नहीं है, क्योंकि-करनेकी शक्तिके जो विभाग वे भी मूर्तके बन्धनोंकी समान बन्धन हैं अतः उनसे बचना चाहिये

क्योंकि—मूर्तके बंधनको तो दूर करना सहज है परंतु अमूर्त बंधन को दूर करना बड़ा कठिन है यदि ज्ञानवान् मनुष्य ऐसे मनुष्यसे कहता है, कि—"वह तो कर्ता भी नहीं है" तब वह समझनेके अतिरिक्त उससे लड़नेको तयार होजाता है और उसको नास्तिक कहने लगता है, अतः सूक्ष्म बन्धन स्थूल बंधनोंसे कठिन नहीं हैं और ज्ञान नहीं होने देते।

(१००)—तब भी उसका स्मरण उसका भजन उसकी पूजा बन्धन और उपाधियोंमें ही होती है इस लिये साधारण पुरुषोंको उचित है, कि—शास्त्रानुसार मूर्त अमूर्त आदि सबमें उसका स्मरण करता हुआ उसके सर्वव्यापक गुणोंको जान कर साकार निराकार आदि सबमें उसकी ही पूजा करें और प्रार्थना करें, कि—हे भगवन् आप अपनी असीम कृपासे हमारी अविद्याके परदेको उठाइये और ज्ञान दीजिये तथा हमको ऐसी शक्ति दीजिये जिससे हम आपको पवित्र जानें और "जो तू है वही मैं हूँ" ऐसा देख सकें यही आपका परम पद है और यही आपकी प्राप्ति है यही मुक्ति है और यही ज्ञानावस्था है। इसके अतिरिक्त जो मनमानी पूजा अथवा उपासना करते हैं वह व्यर्थ ही आयुको खोता है उसको अन्तमें कुछ भी नहीं मिलता इस लिये साधारण पुरुषोंको वेदोंके वचनानुसार कर्म तथा उपासना करनी चाहिये उससे फल भी मिलता है और अन्तः शुद्धि भी होती है परंतु पश्चिमीय विचारोंके अनुसार नहीं चलना चाहिये क्योंकि—वे तो स्वयं शरीराभिमानी हैं अतः विरोचनके शिष्य हैं उनका परिणाम अन्तमें अच्छा नहीं होसकता।

❁ तृतीय-परिच्छेद ❁

(१)—हम इस पहिचानको दृष्टांतके स्वरूपमें लाकर स्पष्ट करते हैं क्योंकि—साधारण पुरुष करनेकी शक्ति और देखनेकी शक्तिका जब तक भेद नहीं समझेगा तब तक मुक्ति नहीं पासकता और सबसे कठिन बात भी यही है, कि—करनेकी शक्तिसे देखनेकी शक्तिको पृथक् करके अपने साक्षी आत्माको जाने और पूर्णज्ञानको पाकर अकर्ता अभोक्ता तथा द्रष्टा होकर जगत्में विचरण करे, इसीका नाम मुक्ति है।

(२)-जितने शरीर अथवा मूर्तियें हैं वे पुतलियोंकी समान हैं और करनेकी शक्ति बारीक तारके समान हैं उससे यह पुतलियें बाँधी गई हैं और देखनेकी शक्ति तमाशा करनेवालेकी समान है वह तारके पकड़कर उनको नचाता घुमाता रहता है।जिस प्रकार पुतलियोंका तमाशा करने वाला अपने आप परदेके भीतर रहता है इसी प्रकार यह साक्षी आत्मा भी जो देखनेकी शक्ति है वह परदेके भीतररहता है और पुतली तथा तारोंके भीतर छिपा हुआ रहकर उनको चलाता रहता है इस कारण शरीर और शरीरधारी उसी चेष्टासे विचित्र तमाशा करते रहते हैं इस विषयमें बुद्धिमानोंकी बुद्धि भी दङ्ग रहजाती है।

(३)-इसमें पुतलीगरसे अधिक आश्चर्य यह है,कि-पुतलीगर तो आप चेष्टा करता है और तारोंको हिलाकर उनको नचाता है परन्तु यह तो आप ही तमाशा देखता है और आप ही उनसे चेष्टा करवाता है स्वयं चेष्टारहित होने पर भी चुम्बक पत्थरकी समान है जिस प्रकार चुम्बक लोहेको चलाता है इसी प्रकार यह उनको चलाता है चुम्बक तो जड़ है और यह चैतन्य है इस लिये कुछ न करने पर भी करता ही प्रतीत होता है।

(४)-पुतलीगर जिस प्रकार बारीक तारोंको पुतलीके प्रत्येक अङ्गमें बाँध देता है और तमाशेके समय जिस २ अङ्गको हिलाना चाहता है हिलाता है इसी प्रकार मूर्तियोंकी रग २ और अङ्ग २ में करने की शक्तिकी गांठ बाँधी गई है और इनको यह अपनी अधीनतामें चलाकर जिस २ अङ्गसे जो जो काम लेना चाहता है बराबर लेता रहता है।

(५)-देखो ! हम चाहें हाथकी मुट्ठी बाँधें चाहें हाथको थप्पडकी समान बनालें परन्तु यह सब इन करनेकी शक्तिकी गाँठोंसे ही करते हैं इसी प्रकार जो पैर चलते हैं हाथ पकडते हैं कभी नाचते हैं कभी कूदते हैं कभी कुश्ती करते हैं कभी लड़ते हैं अपने आपको बचाकर दूसरेको जीतते हैं तथा विचित्र तमाशे करते हैं यह सब तमाशे,इस करने वाली आत्मा (शक्ति) के द्वारा होते हैं।

(६)-जब यह करनेकी शक्ति मूर्तियोंसे सम्बन्ध तोड़ लेती है तब मूर्तियें मुर्देकी समान होजाती हैं न आप चलती हैं न पकड़ती हैं न नाचती हैं न कूदती हैं इस प्रकार पत्थरकी समान होजाती हैं

अत एव सिद्ध होता है, कि-सब मूर्तमात्र शरीर पुतलियोंकी समान जड़ हैं और जिस प्रकार पुतलीगर पुतलियोंके भीतर तारोंको बाँधता है इसी प्रकार करनेकी शक्ति भी तारके रूपमें मूर्तियोंकी नस नस अङ्ग २ में चतुरतासे बाँधी गई हैं।

(७)-फिर जिस प्रकार सब मूर्त शरीरोंके भीतर करनेकी शक्ति तारोंकी समान लगाई गई है इसीप्रकार करनेकी शक्तिके भीतर देखनेकी शक्ति रक्खी गई है वह करनेकी शक्तिको कार्यव्यवहारमें लगाती है और इन्द्रियोंके द्वारा उसे देखती रहती है।वेदके जानने वाले इस करनेकी शक्तिको वा तारको सूत्रात्मा कहते हैं और देखने शक्तिको सूत्रधारी कहते हैं संस्कृतमें तारको सूत्र कहते हैं और तार वालेको सूत्रधारी कहते हैं और यह सूत्रधारी मूर्ति और तारोंके भीतर छिपकर उनको चलाता रहता है इस लिये इसको अन्तर्यामी भी कहते हैं।

(८)—यह देखनेकी शक्ति जो करनेकी शक्तिके भीतर प्रकाश रूपमें स्थिर है इसको न तो कोई आकृति है और न येकोई चेष्टा करता है परन्तु करनेकी शक्तिकी चेष्टाएँ और करनेकी मूर्तियें इसीकी चेष्टा और इसीकी मूर्तियें प्रतीत होती हैं, इस लिये सर्वसाधारण इस करने की शक्तिको निश्चित आत्मा समझा करते हैं, परन्तु जब वह विवेकी शरीरोंको और करनेकी शक्तियोंको पुतलियोंकी समान और तारोंके समान अपने आपसे भिन्न जानते हैं और उनको इसी प्रकार अपनेके अधीनतामें देखते हैं जिस प्रकार पुतलियें और तार तमाशेके समय पुतलीगरके हाथके अधीन होते हैं जब वे विश्वास करने लगते हैं, कि मैं साक्षी हूँ मैं ईश्वर हूँ ये तमाशा मेरे ही ऊपर होरहा है तो इसीका नाम ज्ञान है यही वास्तविक मुक्ति है क्योंकि-जब तक यह इस प्रकारका भेद करके अपने आत्माको नहीं जानता है और अपने आपको शरीर वा मूर्तमात्र जानता है तो इन्हीं करनेकी शक्तिके तारोंसे बँधा हुआ मुक्त नहीं होता परन्तु जब वह अपने सूत्रधारी आत्माको जान लेता है, कि-यह मैं हूँ तब शरीर तो उसी प्रकार इन तारोंके बन्धनमें बँधा रहता है परन्तु यह तो सूत्रधारी स्वतन्त्र और निर्गुण बन कर उनका तमाशाई होजाता है और यही ज्ञानसे प्राप्त होने वाली वास्तविक मुक्ति है बन्धनसे छूटनेका नाम ही मुक्ति है।

(९)-बन्धनसे निकलनेका नाम ही मुक्ति है जो पुरुष बन्धनसे

समझते ही नहीं वह मुक्तिकी आशा वृथा ही करते हैं हम बहुतसे बाँध्धानोंको यह कहता हुआ सुनते हैं, कि-हमको हमारे बड़े बूढ़ोंकी स अनासे मुक्ति मिल जावेगी परन्तु यदि उनसे पूछा जाय कि-तुम किस धनमें पड़े हुएहो और किससे मुक्ति माँगते हो तो वह यही उत्तर गे, कि-हम पराधीन हैं अतः हम किस बन्धनमें पड़े हुए हैं इसका खनेको ज्ञान नहीं है उस समय आश्चर्य होता है; कि-जब वह बन्धन लग ही नहीं जानते तो मुक्ति कैसे माँगते हैं।

कार (१०)—करनेकी शक्तिरूप तारोंमें मूर्तमात्र शरीरोंके बाँधनेका वम ही बन्धन है और जब तक आत्माका विवेक नहीं होता तब तक र तारोंको अहंकारका स्वाभाविक ज्ञान शरीरमें होता रहता है जब इन भीचनोंमें फँसा हुआ शरीर नाचता है उस समय इसको भ्रम होता है हते-मैं ही नाच रहा हूँ और उसके सुख दुःख भूख प्यास आदिको भी का अपना मानता है यह अविवेक ही इसका कारण है परन्तु जब यह करात्मा और अन्तर्यामी आत्माके भेदको समझ जाता है तो सच्ची चेष्टाको पालता है।

का (११)—अविद्याका सबसे बडा दोष तो यह है, कि—अज्ञान विकुय्य इतना ही नहीं मानता, कि—मैं शरीर हूँ, किन्तु वह तो तारों रों समान जड़ और संसारके भीतर सबमें सब कुछ करने वाली अपरक्रियोंको ईश्वर निर्गुण और सर्व-शक्तिमान् मानता है और अपने समपको शरीर मानकर उसके हाथोंमें अपनेको विवश देखकर उसका धा हुआ होता है परन्तु यह करनेकी शक्तियें तो तारोंकी समान जड ती अन्तर्यामी आत्माके बिना यह कुछ चेष्टा नहीं कर सकतीं।

(१२)—एक अद्भुत बात और भी है, कि—इसके आश्रयसे इस अ पहिले जन्मके कर्म जो प्रथम संकल्पमें इसकी इच्छानुसार भोग देने रोंके उत्पन्न हुए थे उन तारोंके हिलानेमें विशेष कारण होते हैं और इस गारक्षा तथा चमकमें इसके कर्मोंके निर्णयसे सुख दुःखके भोगका र्यमाशा करते हैं और यह इस सूक्ष्म मानुषी संकल्पोंसे दुःखोंको दूर रना चाहता है परन्तु यह बात नहीं होती इस लिये यह पराधीन और बेचारा बना रहता है यही उसकी माया है परन्तु जब यह अपने न्तर्यामी और आत्माकी खोज करताहै तब शरीरके अहंकारको छोड़ कर अन्तर्यामीमें अहंकार करने लगता है और जब तक भोग समाप्त

नहीं होते तब तक नियत समय तक शरीरके सम्बन्धके
आत्मिक सुख दुःखोंको अपने अंगोंमें देखता रहता है परन्तु अज्ञानने
नहीं देखता इस लिये वास्तविक मुक्तिको पाजाता है परन्तु जब
के कर्म समाप्त होजाते हैं तब शरीरके अलग होने पर सबमें सब
होकर अपने आपेको पूर्ण अन्तर्यामी देखता है और मायाका
होकर सत्संकल्प होजाता है इस प्रकार इसकी पहिचानसे
प्राप्त होता है ।

(१३)—जब तक यह सूत्रात्मा और अन्तर्यामीका विवेक
करता है तब तक करोड़ों उपासना और सत्कर्म करने पर भी
को नहीं पाता क्योंकि-कर्म तो मजदूरी है जितनी मजदूरीकी
है उतने ही सुखोंके भोगोंकी मजदूरी मिलती है वह अन्तमें समा
जाती है और फिर यह संसार चक्रमें चकराता है ।

(१४)—इस बातको हमारी कपोलकल्पना नहीं सम
चाहिये क्योंकि-अन्तर्यामी ब्राह्मणमें याज्ञवल्क्य मुनिने इस सूत्रा
और अन्तर्यामीका विवेक किया है । मुनिकाण्डमें लिखा है; कि-उस
जनककी सभामें उद्दालक आरुणिऋषिने याज्ञवल्क्य मुनिसे कहा,
हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेशमें कपिगोत्री पातंचल ऋषिके घरमें
कर्म आदिका उपदेश ग्रहण करते थे उनकी ब्राह्मणीके ऊपर एक ग
आया करता था हमने उससे एक समय बूझा, कि—इस स्त्रीके
में आविष्ट होकर बोलने वाला तू कौन है ?

(१५)—तब उसने उत्तर दिया, कि—मैं कवन्धआथर्वण
वाला गन्धर्व हूँ और वेदके सूक्ष्मतत्त्वोंका उपदेश देनेके लिये इस
के ऊपर आता हूँ तुम मुझसे कुछ ज्ञानोपदेश ग्रहण करो, फिर
श्चलकाप्यसे कहा, कि-क्या तू उस सूत्रात्माको जानता है कि—
सूत्रमें यह लोक परलोक तथा सब प्राणी बँधे हुए हैं पातञ्चल का
कहा, कि-मैं तो कर्मकाण्डको ही जानता हूँ सूत्रात्माको नहीं जानता

(१६)—फिर उसने पातञ्चल काप्य और हम सबसे कहा,
क्या तुम अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक परलोक और सब
को उनके भीतर छिपकर चलाता है ? तब पातञ्चल काप्यने कहा,
हम उसको भी नहीं जानते तब उसने कहा, कि—हे भाइयो ! जो
इस सूत्रात्मा और इस अन्तर्यामीको जानता है वही ब्रह्मका जाननेवा

का है, वही लोक परलोकका जानने वाला होता है, वही देवताओं
अजानने वाला होता है, वही वेदका जानने वाला होता है, वही
तवोंका जानने वाला होता है, और वही आत्माका जानने वाला होता
सब और वही सब कुछ जानता है।

(१७)—जो इस सूत्रात्मा और अन्तर्यामीको नहीं जानता वह
सब विद्याओंको जानने पर भी कुछ नहीं जानता जो अपनेको
वान् कहता है और करनेकी शक्तिसे देखनेकी शक्तिको पृथक् कर
क नहीं जानता है अर्थात् सूत्रात्मा और अन्तर्यामीको नहीं जानता है
। वह ज्ञानका झूठा अभिमान करता है ज्ञानीकी यही पहिचान है,
की —शिष्यको इस करनेकी शक्तिसे देखनेकी शक्तिको भिन्न २ करके
समझावे जब तक वह ऐसा न कर सके तो समझना चाहिये, कि-वह
ा ही गप्प मारता है।

सम (१८)-हे याज्ञवल्क्य ! फिर उसने हमको सूत्रात्मा और अन्त-
र्यामीका भेद स्पष्ट रीतिसे समझा दिया था। हे याज्ञवल्क्य ! यदि तुम
के- उस सूत्रात्मा और अन्तर्यामीको जानते हो तो यज्ञकी गौओंको
हा, लासकते हो यदि तुम नहीं जानते तो तुम्हारा ज्ञानका घमण्ड करना
रमर्थ है और इन दोनोंको न जानकर यदि तुम गौओंको लेजाओगे तो
क तुम्हारा शिर गिर पड़ेगा।

क (१९)-याज्ञवल्क्यने कहा, कि—हे गौतम ! मैं इस सूत्रात्मा और
अन्तर्यामीको भली प्रकार जानता हूँ इस कारण मेरा शिर नहीं गिरेगा?
ण तब उद्दालकने कहा, कि—मैं सूत्रात्मा और अन्तर्यामीको जानता हूँ
स आपका यह कहना ही ठीक नहीं होसकता यदि आप समझते हो तो
र इस सभामें स्पष्ट रीतिसे उनका वर्णन करिये।

—ि (२०)-तब याज्ञवल्क्य मुनिने कहा, कि-वायुका सार जो करने
की शक्ति है वही सूत्रात्मा है, वह पुतलियोंके तारोंकी समान है और
जानन तारोंमें यह लोक परलोक और सब प्राणी इस प्रकार बँधे हुए हैं
ा, जिस प्रकार पुतलियें तारोंसे बँधी हुई होती हैं श्वासोंके न रहने पर यह
सब और खुलजाते हैं इस कारण मुर्देका शरीर फूलजाता है और छिन्न
ा, भिन्न होजाता है जब तक यह तार बँधा रहता है तब तक छिन्न भिन्न
जो नहीं होता।

नेया (२१)—देखा अग्नि ऊपरको जाना चाहता है वायु इधर उधर

चलना चाहता है और जल तथा मिट्टी नीचेको गिरना चाह इनका एकत्रित होना कठिन है तो भी इस सूत्रात्मामें बँधकर मनुष्यके शरीरमें विवश होकर बँधे रहते हैं जब यह सूत्र खुल है तब फिर अपने २ स्वरूपको पाकर ल्हासके टुकड़े २ करडालते

(२२)—इस लिये यह सब इसी सत्रमें जो स्वाँस है बँधे इकट्ठे रहते हैं, तब उद्दालकने कहा कि-यह ही सच है, इसी प्र गन्धर्वने हमको सिखलाया था, और अब अन्तर्यामीको भी बतला

(२३)—याज्ञवल्क्यने कहा, कि—जो पृथिवीके भीतर पृथिव शरीरवाला होकर पृथिवीको उसके बर्तावके लिये उभारता है पृथिवी उसको नहीं जानती यही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२४)-जो पानियोंके भीतर पानियोंसे शरीरवाला होकर पानि को उनके बर्तावके लिये उभारता है, और पानी उसे नहीं जानते तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२५)-वह जो अग्निके भीतर अग्निसे शरीरी होकर अग्निको के बर्तावके लिये उभारता है, और अग्नि उसे नहीं जानती वही आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२६)—वह जो आकाशके भीतर आकाशसे शरीरवाला हो आकाशके बर्तावके लिये उभारता है और आकाश उसे नहीं जान वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२७)—जो वायुके भीतर वायुसे मिलकर वायुको उसके बर के लिये उभारता है और वायु उसे नहीं जानती, वही तेरा आ अंतर्यामी अमृत है।

(२८)-जो देवलोकके भीतर देवलोकसे शरीरवाला, हो देवलोकको उसके बर्तावके लिये उभारता है और देवलोक उसे न जानता वही तेरा आत्मा अमृत है।

(२९)—जो सूर्यके भीतर सूर्यसे शरीर वाला होकर सूर्यको उ के बर्तावके लिये उभारता है और सूर्य उसे नहीं जानता, वही ते आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३०)—जो दिशाओंके भीतर दिशाओंसे एक हुआ दिशाओं उनके बर्तावके लिये उभारता है, और दिशायें उसे नहीं जानतीं व तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।